सीमित वितरण हेतु प्रकाशित

देखी सुनी

वर्ष 2014, अंक 28

"हटा दो सब बाधाएँ मेरे पथ की, मिटा दो आकांक्षाएं सब मन की
ज़माने को बदलने की शक्ति को समझो, कदम से कदम मिला के चलने दो मुझको"

प्रिय साथियों!

पुरुष वर्चस्व द्वारा लादी गई इज्ज़त व नैतिकता के विरुद्ध चुप्पी तोड़ती आवाज़ों को सर्मपित इस अंक में शामिल हैं – महिला हिंसा का आधार, देहाती औरत होने का गर्व, महिला बैंक की पहल, कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव, सहजीवन से जुड़े सरोकार, घरेलू कामगारों की स्थिति व धारा 377 पर ज़ारी बहस!

आशा करते हैं आपको हमारा यय प्रयास सराहनीय लगेगा! अपने अनुभव, प्रतिक्रियायें व सुझाव अवशय साँझा करें! नये साल की शुभकामनाओं सहित।

नीतू रौतेला

जागोरी सन्दर्भ समूह

स्त्री उत्पीड़न की जड़ें

विकास नारायण राय

उत्पीड़न के साए में दिल्ली विश्वविद्यालय के आंबेडकर कॉलेज की कर्मचारी की आत्महत्या, महिला सशक्तीकरण को मात्र यौनिक सुरक्षा के चश्मे से देखने के प्रति गंभीर चेतावनी है। सभी मानेंगे कि देश की राजधानी के एक बड़े शिक्षा संस्थान के इस प्रचारित प्रकरण के चार वर्ष तक खिंचने की जरूरत नहीं थी, और इसका अंत न्याय में होना चाहिए था, न कि आत्महत्या में। काश, कानून का ध्यान 'कार्यस्थल पर यौनिक उत्पीड़न से सुरक्षा' तक सीमित रहने के बजाय 'कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न से सुरक्षा' तक विस्तृत होता। जहरीली हो चुकी पत्तियों, टहनियों को काटने के उतावले संतोष में क्या हमने जहरीली जड़ों के उन्मूलन से आंख नहीं मूंद रखी है?

लैंगिक न्याय के कठिन रास्ते को प्रायः सामाजिक व्यवहार के दो शतुरमुर्गी स्तरों पर देखा जा सकता है। एक, यह तर्क देने वालों की कमी नहीं है कि महिला कानूनों का व्यापक दुरुपयोग हो रहा है, और दूसरा, आम दावा होता है कि मर्द अपनी स्त्रियों के साथ जो भी कर रहे हैं उनके भले के लिए ही तो। दोनों में बस ऊपर-ऊपर से सच्चाई की झलक रहती है और अंदरखाने पूरा पाखंड भरा होता है। महिला कानून, अधूरे-अधकचरे-अप्रभावी नियमों का पुलिंदा हैं, जो उत्पीड़ित को उलझाते हैं, राहत नहीं देते। लिहाजा, अगर समस्या है घरेलू हिंसा, तो भी पीड़ित को गुहार लगानी पड़ती है दहेज उत्पीड़न की। और पुरुष वर्चस्व की तो पूर्व-शर्त ही है स्त्री का पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से कमजोर होना। इस समीकरण के दायरे में मर्द कुछ भी उपाय कर लें, स्त्री असुरक्षित ही रहेगी।

अगर बलात्कार या कामुकता, लंपटता से भरे तमाम तरह के महिला उत्पीड़न मात्र यौन अपराध होते तो इन्हें नियंत्रित कर पाना कठिन नहीं था। समूची कानून-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था के साथ-साथ सारा समाज भी कामुक और लंपट वहशियों के प्रतिकार में एकजुट हो ही जाता है। लिहाजा, कामकाजी स्त्रियों को ही नहीं, तमाम स्त्रियों और बच्चियों को इस हौवे से कब की राहत मिल चुकी होती। पर बलात्कार सहित यौन उत्पीड़न के विभिन्न अपराध, जो पहली नजर में महज कामुक, लंपट कृत्य लगते हैं, मुख्यतः पुरुष वर्चस्व से संचालित, लैंगिक अपराध भी हैं; स्त्री की लैंगिक असमानता इनकी उत्प्रेरक है तो उसकी लैंगिक विवशताएं इनकी उर्वर जमीन। बिना लिंग संवेदी वातावरण बनाए और लैंगिक न्याय की मंजिलें तय किए इन अपराधों को मिटा पाना तो दूर, कम भी नहीं किया जा सकता।

पुरुष वर्चस्व द्वारा स्त्री पर लादी गई 'इज्जत' की अवधारणा का उसके उत्पीड़नों-बलात्कारों, उसकी हत्याओं-आत्महत्याओं से सीधा संबंध होता है। परिवार में उसे संपत्ति और बाजार में भोग्या की हैसियत दी जाती है। सनातन सत्य है कि कमजोर वर्ग पर कैसी भी जवाबदेही लादी जा सकती है। खासतौर पर, कमजोर स्त्री पर, सामाजिक नैतिकता को ढोने की। शरद यादव जैसे तर्कशील व्यक्ति ने हाल में जबलपुर में कहा कि बेटी की इज्जत जाने से परिवार और मोहल्ले की इज्जत चली जाती है। इसी बोझ से दबी, हरियाणा में रोहतक के घरणावती गांव में, गोत्र-विवाह करने वाली लड़की कुनबे द्वारा कपट से मार दी गई कि वह परिवार, गांव, समाज, खाप की 'इज्जत' ले बैठी थी। अंततः यह उसके कमजोर होने की ही सजा थी।

घरणावती जैसे समाजों में युवकों द्वारा बलात्कार भी किए जाते हैं, विशेषकर कमजोर वर्ग की स्त्रियों के साथ। ऐसा नहीं है कि वहां लोग इसे अनैतिक नहीं मानते, पर बलात्कारी को जान से नहीं मारा जाता। उलटे उसे कानूनी मदद की सुविधा और पुनर्वास का अवसर दिया जाता है। यह माना ही नहीं जाता कि पुरुष के ऐसे व्यक्तिगत कुकर्म सारे समाज को भी कलंकित करते हैं। शरद यादव ने भी हमलावर मर्द के परिवार और मोहल्ले की इज्जत जाने की बात नहीं की। मजबूत मर्द पर परिवार-मोहल्ले-समाज-खाप की नैतिक जवाबदेही लादी भी कैसे जा सकती है!

युद्धों की तरह, सांप्रदायिक और जातीय किस्म के दंगों में भी दूसरे समुदाय को नीचा दिखाने या उजाड़ने के लिए बलात्कार एक समाज-स्वीकृत लैंगिक हथियार के रूप में इस्तेमाल होता आया है। 2002 के गुजरात दंगों में अमदाबाद का नरोदा पाटिया इसका जीता-जागता उदाहरण बना। हालिया मुजफ्फरनगर के दंगों के दौरान भी, वहां के फुगाना गांव में यही हुआ। ऐसे में बलात्कारी अपने समुदाय का हीरो बन जाता है और पीड़ित अपने समुदाय की इज्जत गंवाने का माध्यम। यहां कामुकता, लंपटता नहीं, लैंगिक सोच हावी रहता है। यहां तक कि खालिस यौनिक धरातल पर, बलात्कार जैसी शारीरिक बर्बरता के विरुद्ध जो व्यापक सामाजिक आक्रोश फूटता है उसमें भी समझ रहती है कि यह एक लैंगिक सेंधमारी है। आखिर, स्त्री का यौन किसी न किसी पुरुष की अमानत ही तो माना जाता है!

यौनाचार को सामाजिक, न्यायिक, सत्ता संस्थानों द्वारा 'इज्जत' के प्रिज्म से देखने का यही आधार है। इसी सोच का असर है कि स्व-विवेक से वर-चयन करने वाली बेटी को नतमस्तक करने के लिए उसका कुनबा, यहां तक कि तथाकथित महिला कानून भी, उसके पुरुष साथी को दुराचारी घोषित कर देते हैं। आंबेडकर कॉलेज की उत्पीड़ित कर्मचारी को भी लगातार लैंगिक कठघरे में खड़ा रखा गया; उसे चार वर्षों से झूठा ही सिद्ध किया जा रहा था।

दरअसल यौनिक चश्मे से बने सुरक्षा-कानूनों से मर्द के लैंगिक हथियारों का स्त्री सामना कर ही नहीं सकती। इन कानूनों की बनावट उसके संभावित प्रतिरोध को भोंथरा ही करती है।

पुरुष वर्चस्व द्वारा स्त्री पर लादी गई 'इज्जत' की अवधारणा का उसके उत्पीड़नों-बलात्कारों, उसकी हत्याओं-आत्महत्याओं से सीधा संबंध होता है। परिवार में उसे संपत्ति और बाजार में भोग्या की हैसियत दी जाती है। कमजोर वर्ग पर कैसी भी जवाबदेही लादी जा सकती है। खासतौर पर, कमजोर स्त्री पर, कथित सामाजिक नैतिकता को ढोने की।

तभी, घरणावती हत्याकांड को सामाजिक जीवन मूल्यों, गोत्र परंपरा के उल्लंघन का मुद्दा बनाने वाले इलाके के चौधरियों से लेकर सूबे के मुख्यमंत्री तक की चिंता के ग्राफ से लैंगिक न्याय या समाज का संवेदीकरण नदारद रहता है। उनके लिए प्रमुख सवाल है- क्या समान गोत्र में, यानी उनके अनुसार, भाई-बहन की शादी हो जाने दें? सोलह दिसंबर 2012 के दिल्ली बलात्कार कांड पर चला विमर्श भी प्रमुखतः कानून-व्यवस्था के संदर्भ में ही सीमित रहा। हर ओर से एक जैसे स्वर गूंजे- पुलिस ज्यादा कारगर बने और दंड ज्यादा कड़े हों। दोनों वीभत्सतम अपराधों में पुरुष वर्चस्व के लैंगिक आयामों की भूमिका को अनदेखा करना इसीलिए संभव और स्वाभाविक हो सका, क्योंकि स्त्री कमजोर है।

सीधा समीकरण है कि पुरुष वर्चस्व को तोड़े बिना स्त्री को दैनिक हिंसा से मुक्ति नहीं मिलने जा रही। स्त्री-विरुद्ध हिंसा की रोकथाम के दिखावटी-बनावटी-मिलावटी-सजावटी उपायों को तो छोड़ ही दीजिए, यहां तक कि अच्छी से अच्छी कानून-व्यवस्था और कड़ी से कड़ी अपराध-न्याय व्यवस्था भी स्त्री-विरुद्ध हिंसा के घर-घर में पसरे ताने-बाने पर रोकथाम नहीं लगा पाती है। इन्हें समय-समय पर सुदृढ़ किए जाने के बावजूद नतीजा यही निकलता है कि स्त्री को कमजोर रख कर उसकी सुरक्षा के उपाय कारगर नहीं हो सकते। ऐसी स्त्री पहल, ऐसे लैंगिक कानून और ऐसे सामाजिक मंच चाहिए जो महिला सशक्तीकरण में ही इस सार्वभौम समस्या का हल देखें।

स्त्री वर्ग को मजबूत होना है, क्योंकि स्त्री-विरुद्ध हिंसा की मुखालफत की मुहिम महिलाओं की सजग और सबल भागीदारी की मोहताज है। मामला उन्हें कृत्रिम सुरक्षा पहुंचाने का इतना नहीं है; बुनियादी मुद्दा यह है कि महिला सशक्तीकरण का कारगर रास्ता क्या है?

लैंगिक न्याय संहिता (जेंडर जस्टिस कोड) और लिंग संवेदी समाज इस रास्ते की महत्त्वपूर्ण मंजिलें होनी चाहिए, पर राज्य-तंत्र के रडार से दोनों ही नदारद रहे हैं।

इन मंजिलों को पाने में नागरिक समाज स्वयं कोई बड़ी पहल करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं। मीडिया के लिए भी ये आयाम गौण रहे हैं। और, अकेले स्त्री इस दिशा में ज्यादा आगे नहीं जा पाई है।

एक स्त्री के लिए उसके सशक्तीकरण का मतलब क्या है? रोजमर्रा की लैंगिक-यौनिक हिंसा के हौवे से मुक्ति; पुरुषों जैसे बराबरी के दायित्व और बराबरी के अधिकार; आत्म-सम्मान, आत्म-निर्णय, आत्म-विश्वास और आत्म-विवेक से संचालित पारिवारिक और सामाजिक जीवन!

निश्चित रूप से स्त्री, परिवार से बाहर नई से नई श्रम वाली और दिमागी भूमिकाएं निभाने को आतुर है। उसे शिक्षा, शादी, कैरियर जैसे व्यक्तिगत निर्णयों में तो स्वतंत्रता चाहिए ही, वह परिवार और समाज की निर्णय प्रक्रिया में भी समान भागीदारी चाहेगी। उसकी पारिवारिक संपत्तियों और प्रतिभूतियों में बराबर की हिस्सेदारी होनी चाहिए। जरूरी होगा कि राजनीति समेत तमाम सत्ता संबंधों में उसका दखल हो। उसे म्रहिला-छवि को लेकर, हर तरह के अपमानजनक और उत्पीड़क 'स्टीरिओ टाइप' से मुक्ति पानी है। वह चाहेगी कि उसकी क्षमता को उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के आधार पर जाना-आंका जाए, न कि उसके लिंग से।

इन रास्तों में जो रुकावटें हैं, स्त्री उनसे भी वाकिफ है। नियमित उत्पीड़न, बलात्कार, हत्याएं, आत्महत्याएं उसके संसार से अचानक छूमंतर नहीं होंगे। स्त्री पर लदा 'इज्जत' का लैंगिक बोझ अपने आप नहीं जाएगा।

कानून भी सजा देने में चुस्ती वहीं तक दिखाता है जहां तक आरोप खालिस यौनहिंसा का हो। अन्यथा लैंगिक हिंसा के अधिकतर मामलों में तो सजा का प्रावधान ही नहीं है, और जहां है भी, वहां सालों बाद भी सजा दुर्लभ है। घरेलू हिंसा के कानून दूर भविष्य में हर्जाने का वादा देंगे, मौजूदा वक्त में राहत नहीं। लड़की को शोषक लैंगिक सांचे में ढालने वाले पैतृक कुनबे की कोई जवाबदेही नहीं होती। मीडिया में कभी यह सुर्खी देखने को नहीं मिलेगी कि सारे गांव या मोहल्ले में एक भी लड़की को पैतृक संपत्ति में हिस्सा नहीं मिला है। पिता और भाई बेशक यौनिक दुर्व्यवहार के प्रतिकार में अपनी जान भी दे दें, पर बेटी या बहन को उसके हक की एक इंच जमीन नहीं देना चाहेंगे।

देश में तीस फीसद लोग शाब्दिक निरक्षर हैं और इसलिए साक्षरता मिशन और सर्वशिक्षा अभियान भी हैं। इसी देश में 99 फीसद पुरुष-स्त्री एक दूसरे के अधिकारों के प्रति निरक्षर हैं। मगर इस मोर्चे पर राज्य का न कोई मिशन है न अभियान। स्त्री-विरोधी हिंसा की व्यापकता को देखते हुए क्या यह राज्य की जिम्मेदारी नहीं होनी चाहिए कि उसके नागरिक इस मामले में संवैधानिक दृष्टि से संपन्न हों? राष्ट्रीय स्तर पर एक लैंगिक मिशन के तहत, शैक्षिक, नागरिक, सरकारी, गैर-सरकारी इकाइयों में लिंग-संवेदी मंच अनिवार्य हों।

आज स्त्री-पहल की अपनी विकट सीमाएं हैं। सोलह दिसंबर के दिल्ली कांड, हरियाणा में घरणावती हत्याकांड या आंबेडकर कॉलेज जैसी आत्महत्याएं अनवरत क्रम का हिस्सा हैं। पर इनसे स्त्री की पहल थमने वाली नहीं, हालांकि इसे शक्ति दे सकने वाले कानूनों और इसे व्यापक कर सकने वाले मंचों का गहरा अभाव है। महिला सशक्तीकरण के ये तीनों जरूरी आयाम- स्त्री पहल, लैंगिक कानून, संवेदी मंच- जो अस्त-व्यस्त नजर आते हैं, इस मोर्चे की प्राथमिकता होने चाहिए।

vnraiips@gmail.co.

जनसत्ता 23.10.2012

2

चालीस करोड़ औरतों का हौसला

सियासत

सुभाषिनी अली
माकपा नेत्री
edit@amarujala.com

इन देहाती औरतों ने ऐसा कौन-सा पाप कर दिया कि उनके साथ किसी की तुलना की जाने पर उसे अपमान समझा जाता है? सच तो यह है कि गांवों में रहने वाली ये महिलाएं बहुत ही विपरीत परिस्थितियों में हमारे समाज के बहुत बड़े हिस्से को अपनी मेहनत और सेवा के जरिये जिंदा रखती हैं।

अभी कुछ दिनों पहले देश के सर्वोच्च निर्वाचित पद के एक प्रत्याशी ने इस पर खेद प्रकट किया कि पाकिस्तान के प्रधानमंत्री ने हमारे प्रधानमंत्री को देहाती औरत कहकर उनका अपमान किया है। अब इस बात की सफाई दी जा चुकी है कि नवाज शरीफ ने ऐसा नहीं कहा, लेकिन अभी तक इसकी सफाई नहीं दी गई है कि प्रत्याशी जी देहाती औरत शब्द को अपमानजनक क्यों मानते हैं। देश की चालीस करोड़ देहाती औरतों ने कौन-सा ऐसा पाप किया है कि उनके साथ अगर किसी की तुलना की जाती है, तो यह उसका अपमान समझा जाएगा?

सच तो यह है कि गांवों में रहने वाली महिलाएं बहुत ही विपरीत परिस्थितियों में हमारे समाज के बहुत बड़े हिस्से को अपनी मेहनत और सेवा के जरिये जिंदा रखती हैं। इसके बदले में उनको बहुत कम या कुछ भी नहीं मिलता। महिलाएं पुरुषों से अधिक घंटों के लिए काम करती हैं। वे गृहस्थी और सामाजिक कामों का अधिक बोझ वहन करती हैं और उनका यह काम अदृश्य और निःशुल्क होता है। वे एक दिन में औसतन दो घंटे से थोड़ा अधिक समय खाना पकाने, घर की सफाई करने और बर्तन धोने में ही बिताती हैं। खेती में भी वे पुरुषों के मुकाबले अधिक तरह के काम करती हैं। ईंधन और चारा इकट्ठा करना, पानी भरना, सब्जी उगाना और पशुओं की देखभाल जैसे कई कामों की गिनती तो काम की श्रेणी में ही नहीं होती।

इन तमाम निःशुल्क सेवाओं के अतिरिक्त देहात की औरतें मेहनत-मजदूरी भी करती हैं। बुआई, रोपाई, अनाज को खलिहान तक पहुंचाना, ये सारे काम महिलाएं करती हैं। उनकी मजदूरी पुरुषों की आधी या तीन चौथाई होती है। वे ये सारे काम खराब और खतरनाक परिस्थितियों में करती हैं। खेती में तमाम रासायनिक पदार्थों का इस्तेमाल उनके लिए कई तरह के इन्फेक्शन के अलावा गठिया के मर्ज का खतरा पैदा करता है। ग्रामीण क्षेत्र की करीब 57 प्रतिशत महिलाएं चूंकि एनीमिया की शिकार हैं, ऐसे में वे तमाम बीमारियों का शिकार भी आसानी से बन जाती हैं।

मनरेगा में लाखों महिलाएं देश भर में काम करती हैं। उनको पुरुषों से कम वेतन मिलता है, लेकिन उनसे कम काम वे नहीं करतीं। राजस्थान के जयपुर जिले के बड़गांव ब्लॉक में चिलचिलाती धूप में रोज सैकड़ों औरतें 200 फुट ऊंची पहाड़ी पर अपने सिर पर बीस किलो का वजन रखकर चढ़ती हैं। उनके सिर पर यह बोझ पेड़ों या पत्थरों का होता है। पहाड़ी पर चढ़कर एक औरत हाथ में डंडा लेकर मिट्टी खोदती है और दूसरी उसके द्वारा खोदे गए गड्ढे में पेड़ लगाती है। उनको दिन भर में पच्चीस पेड़ लगाने पर एक सौ पैंतीस रुपये मजदूरी मिलती है। बाग के चारों तरफ पत्थर की दीवार बनाने के लिए उन्हें एक सौ पैंतालीस रुपये रोज मिलता है। उन्हें मिट्टी खोदने के लिए औजार नहीं दिया जाता। पहाड़ी के ऊपर धूप और बरसात से उन्हें किसी प्रकार की राहत नहीं है। छोटे बच्चों को भी पत्थरों के बीच डाल देना पड़ता है। वहां पीने के पानी का इंतजाम नहीं है।

अपने लेख *महिलाएं और उनका काम* में वृंदा करात लिखती हैं, संथरा एक पैंतीस वर्षीय वडार समुदाय की दलित महिला है। अपनी तेरह-चौदह साल की बेटी और मां के साथ वह महाराष्ट्र के यवतमाल जिले के एक मुख्य मार्ग पर सुबह साढ़े पांच बजे खड़ी है। थोड़ी देर बाद एक ट्रैक्टर आकर रुकता है और औरतों के पास बड़े पत्थरों का ढेर डाल जाता है। संथरा लोहे का एक बड़ा घन उठाती है, और मां-बेटी दौड़कर पत्थर अलग करने लगती है। एक पत्थर का वजन आठ से दस किलो के बीच है। उन्हें यह पत्थर आठ एमएम के टुकड़ों में तोड़ना है। तीन औरतों के बीच दो घन हैं, जिनमें से एक उधार का है, जिसके लिए तीस रुपये रोज का किराया देना पड़ता है। जब सूरज की किरणें असहनीय हो जाती हैं, तब वे थोड़ी देर रुककर मिर्च की चटनी के साथ सूखी रोटियां खा लेती हैं। तीनों औरतें मिलकर तीन सौ रुपये कमाती हैं। यह काम करने के लिए उन्हें हर रोज पांच किलोमीटर आना पड़ता है।

झारखंड की राजधानी रांची। सुबह साढ़े सात बजे तीन टैंपो धुआं उगलते हुए आते हैं। दस रुपये देने के बाद उनमें आदिवासी महिलाएं बैठती हैं। वे श्रमिकों के बाजार में पहुंचती हैं। ठेकेदार मजदूरों का ऐसे मुआयना करते हैं, जैसे वे जानवर हों। एक ठेकेदार बारह मजदूर चुनता है, जिनमें पांच कम उम्र की औरतें हैं। ज्यादा उम्र की एक औरत उनके साथ होने की कोशिश करती है, तो ठेकेदार उसे गाली देकर रोकता है। कम उम्र वाली औरतों में से एक कहती है, यह मेरी मां है, हम जोड़ी बनाकर काम करेंगे। ठेकेदार हंसते हुए कहता है, ठीक है, लेकिन एक तिहाई पैसे दूंगा। एक के दाम में दो मिली!

पिछले साल मार्च में भोपाल स्टेशन पर अधेड़ उम्र की तीन औरतें हमारे साथ खड़ी हो गईं। उनके सिर पर पत्तों के बड़े-बड़े बंडल थे। उन्होंने बातचीत में बताया कि वे उत्तर प्रदेश के ललितपुर के पास की एक गांव की हैं, पर ललितपुर में छोटी-सी कोठरी किराये पर लेकर रहती हैं. और अपने परिवार का पेट पालने के लिए बीड़ी बनाती हैं। एक हजार बीड़ी बनाने पर उन्हें पैंतीस से चालीस रुपये मिलते हैं। पंद्रह घंटे काम करने पर इतनी बीड़ियां बन पाती हैं!

ये हैं हमारे देश की देहाती औरतों की कुछ झलकियां। नवाज शरीफ ने मनमोहन सिंह का अपमान किया या नहीं, यह तो बहस का मुद्दा बन गया, पर प्रत्याशी महोदय ने देहाती औरत को अपमानजक रूप में प्रस्तुत कर निश्चय ही देश की करोड़ों औरतों, उनकी मेहनत, उनकी सेवा, उनकी गरीबी, उनकी लाचारी और उनकी जबर्दस्त हिम्मत को अपमानित करने का काम किया है।

अमर उजाला 11.10.2013

देहाती औरत होने का मतलब

सियासत

प्रदीप भार्गव
edit@amarujala.com

पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ का पाकिस्तानी पत्रकार हामिद मीर और एक भारतीय पत्रकार की मौजूदगी में प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को कथित तौर पर देहाती औरत कहा जाना (हालांकि इसे लेकर विवाद है कि उन्होंने ऐसा कहा या नहीं) और इस मुद्दे को नरेंद्र मोदी के तूल देने से देहाती औरत का सवाल केंद्र में है।

लोकतंत्र में लोक प्रधानमंत्री से महत्वपूर्ण होता है। लोक अपनी सत्ता उस तंत्र को सौंपता है, जिसके प्रधानमंत्री और अन्य मंत्री मात्र गण होते हैं। लोक की आधी आबादी इन्हीं देहाती महिलाओं की है। शायद नमो की गलती नहीं है। जिस आधुनिकता और विकास का प्रतीक गुजरात के मुख्यमंत्री बनना चाहते हैं, वह आधुनिकता और विकास, आक्रामक, वैभवशाली, आडंबरी, विश्वविजयी और गर्व का बोध कराने वाला है। मगर भारत देश या किसी भी देश की देहाती औरत कमजोर नहीं है। वह कर्मठ है, दूसरों का ध्यान रखती है, प्रेम करती और करना सिखाती है, *गोदान* की धनिया की तरह होरी को लड़ना सिखाती है, वह बदलाव का स्रोत है, जहां आदमी को आगे आने देती है। वह पुरुष की सहकमी है, उसकी महत्वाकांक्षाओं को आईना दिखाती है। सहती है, फिर आवाज उठाती है, फिर पुरुष को आगे कर, घर संभालती है। वह अथक, बलशाली और अपने जीवन की नायिका है। वह अन्न उगाती है, उसे छान-साफ कर पकाती है और फिर प्रेम से खिलाती है। खुद बचा-खुचा खाती है। गुजरात में तो विकास के चलते अन्न उगाना कम हो गया और गुजरात अपनी आवश्यकता का 40 प्रतिशत से अधिक अन्न अन्य राज्यों से आयातित करता है। पर गुजरात के देहात की महिला उतनी ही कर्मठ है, अग्रणी है। सेवा संस्था से जुड़ी इला बेन ही नहीं, संस्था में हर देहाती महिला, मुख्यमंत्री तक बनने की कुव्वत रखती है, पर वह महत्वाकांक्षी नहीं है। गुजरात ही नहीं, दुनिया की देहाती महिलाओं ने खूब कमाल किया है। सबसे बड़ा उदाहरण तो गुजरात की महिलाओं के मजदूर संघ 'सेवा' का है, जिसकी 10 लाख सदस्य हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में उत्पादन से लेकर उसे बड़े-बाजारों में बेचने तक का काम करती हैं। हरेक देहाती महिला उनमें जागरूक, कर्मठ और शक्तिशाली है।

देहाती औरत कमजोर नहीं, कर्मठ है, वह दूसरों का ध्यान रखती है और प्रेरणा का स्रोत है।

देहाती महिला में जीवट है। प्रधानमंत्री आज की राजनीति में वह सब करने के लिए विवश हैं, जिससे देहाती महिला बहुत दूर रहती है। राग-द्वेष, कृपणता, बांह मरोड़ना, साम-दाम-दंड-भेद, सब करना होता है। मीनाक्षी लेखी और अंबिका सोनी जैसी नागर महिलाएं उस पर पर्दा डालती या पर्दाफाश करती हैं। पर देहाती महिला तो सीधी-साधी, कर्मठ और विवेकशील होती है। सतत संघर्ष करती रहती है। आधुनिक मन का प्रपंच उसमें नहीं है।

आज राजनीति वर्चुअल (आभासी) चमक-दमक के दौर से गुज़र रही है। चमक-दमक ऐसी कि यथार्थ हो भी, तो यथार्थ न लगे। जहां यथार्थ से जुड़ने का, गुरबत की बात करना, किसान-मजदूर की बात करना, उनको सक्रिय राजनीति में स्थान देना व्यवहारिक नहीं माना जाता। यही नहीं, ऐसी बातों को ही ढोंग और पाखंड समझा जाता है। उसका मजाक उड़ाया जाता है। यह विकास गरीब और मजदूर का न होकर चमकती सड़कों, मॉल एवं लकदक गाड़ियों के शोर से भरा विकास है। यही देहाती औरत के साथ होता है। भला हो नवाज शरीफ या जिसका भी, वह उसे विमर्श में तो लेकर आया। केबल टेलीविजन जनमानस पर खूब छा रहा है। और आभासी चमक-दमक के साथ नेता पटल पर जल्दी-जल्दी आते-जाते बोलते जाते हैं। जो भी विज्ञापन की आवाज और उसी की तरह धारदार बोले, उसी का बोलबाला होता है। मोदी ने ऐसें बोलने का बहुत प्रयास किया है और बहुत प्रभावशाली वक्तव्य देते हैं। बीच-बीच में पड़ती तालियां वैसी ही होती हैं, जैसी किसी सीरियल में तलवार जैसी धारदार आवाज। देहाती महिला भी ऐसे ही आती और चली जाती है। देहाती महिला को छोटा और अकर्मण्य मानना बड़ी भूल है। बहुत गर्व होगा, अगर हमारा प्रधानमंत्री 'देहाती महिला जैसे माननीय गुणों वाला एवं सहज, सीधा हो। वैसा ही जीवट भरा हो।

लेखक गोविंद वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान के निदेशक हैं

अमर उजाला 02.10.2013

औरत की चुप्पी टूटने का मतलब

परिदृश्य

सुभाषिनी अली
माकपा नेत्री
edit@amarujala.com

चुप्पी तोड़ना महिलाओं और लड़कियों के लिए महंगा साबित होता है। हरियाणा की बलात्कार की शिकार एक दलित लड़की ने जब मुंह खोला, तो उसकी मां की हत्या कर दी गई। लेकिन यह भी सच है कि यातना भुगतने वाली इन लड़कियों और औरतों ने मुंह खोलकर दूसरों के लिए न्याय का दरवाजा खोला है।

मीना कुमारी की एक फिल्म थी, *मैं चुप रहूंगी*, जिसे काफी ख्याति मिली। अपने खिलाफ होने वाले अन्याय को चुपचाप बर्दाश्त करने वाली नारी इस फिल्म की नायिका थी। और वही नारी हमारे सामने आदर्श के रूप में जमाने-जमाने से पेश की जा रही है। चुप्पी साधे रखने से ही महिलाएं अपने आपको, अपनी इज्जत को और अपने परिवार की इज्जत को बचाकर रख सकती हैं। इस चुप्पी का जन्म अगर भय से होता है, तो इस बात की उम्मीद उसका पोषण करती है, कि कभी न कभी इस चुप्पी का सिला मिलेगा, उसका श्रेय प्राप्त होगा। उनकी इस चुप्पी का महत्वपूर्ण पहलू लड़कियों और महिलाओं से छिपाया जाता है। उनकी यह चुप्पी उन पर अन्याय करने वालों का मन बढ़ाता है और उसे स्वीकृति और सहमति का रूप देकर उन्हें ही अपने साथ होने वाले अन्याय के लिए जिम्मेदार ठहराता है।

1978 में महाराष्ट्र के ठाणे जिले के तुंबा थाने में एक नाबालिग आदिवासी लड़की को उसके भाई के साथ रात भर रखा गया। दूसरे दिन लड़की ने शिकायत की कि उसके साथ रात में पुलिस वालों ने सामूहिक बलात्कार किया था। पहले उच्च न्यायालय और बाद में सर्वोच्च न्यायालय ने आरोपियों को यह कहकर बरी कर दिया कि चूंकि लड़की ने प्रतिरोध नहीं किया, इसलिए जो कुछ हुआ, सहमति से हुआ। 12 साल की लड़की ने वर्दीधारियों का प्रतिरोध क्यों नहीं किया, यह हम समझ सकते हैं, पर न्यायाधीश नहीं समझ पाए। इस लड़की का मुकदमा जिन संगठनों ने लड़ा था, उन्होंने कानून में संशोधन की लड़ाई लड़ी। जिसके बाद नाबालिग लड़की के खिलाफ यौन संबंध बलात्कार ही माना गया। यही नहीं, हिरासत में होने वाले बलात्कार के मामलों में सख्त धाराएं जोडी गईं। पिछले साल दिल्ली की घटना के बाद बलात्कार की परिभाषा को विस्तृत किया गया और कानून को और सख्त बनाया गया। काम की जगह पर होने वाले यौनिक शोषण के खिलाफ भी कानून पारित किया गया। उम्मीद बनी थी कि अब लड़कियों और महिलाओं की सुरक्षा बढ़ेगी, लेकिन पिछले दिनों की घटनाओं से यह उम्मीद फीकी पड़ गई है।

विगत 21 अगस्त को दिल्ली के कमला नगर थाने में एक 16 वर्षीय लड़की ने एफआईआर दर्ज की कि 15 अगस्त की रात में आसाराम ने अपने जोधपुर स्थित आश्रम में उसे यौन हिंसा का शिकार बनाया। कई दिनों के बाद ही इस पर कार्रवाई हुई और हफ्तों के बाद आसाराम जेल भेजे गए। अदालत के सामने नामी-गिरामी वकील राम जेठमलानी ने लड़की की चुप्पी का सवाल उठाया, 'जब वह कमरे से निकली, तो वह बोली क्यों नहीं। कमरे के अंदर वह चिल्लाई क्यों नहीं। वकील साहब ने उसकी उम्र अधिक होने का भी दावा किया और अंत में यह भी कह डाला कि यह परिवार कुछ कांग्रेस के लोगों द्वारा प्रेरित है। लड़की का नाबालिग होना उसके स्कूल के सार्टिफिकेट से साबित हो चुका है। एक नाबालिग लड़की ऐसे व्यक्ति के प्रहार से, जिन्हें वह भगवान मानती है, चुप क्यों नहीं होगी? और जब वह व्यक्ति उसके मां-बाप को मार डालने की धमकी देता है, तो फिर वह चुप क्यों नहीं होगी? जब उसके आश्रम की दीवारों पर उसकी

तस्वीर तमाम नेताओं के साथ लटकी हुई हैं, तो वह चुप क्यों नहीं रहेगी? आश्चर्य की बात यह है कि आखिर उसने बोलने की हिम्मत जुटाई और उसके बोलने से तमाम लोगों की जुबान खुल गई है।

तरुण तेजपाल हैरान हैं कि उन पर यौन हिंसा का आरोप लगाने वाली, उनके मातहत काम करने वाली, उनकी बेटी की हमउम्र दोस्त, चुप क्यों रही। दिल्ली उच्च न्यायालय के सामने उन्होंने अपनी याचिका में कहा है कि उन्होंने उसके साथ कुछ हल्की-फुल्की मजाकिया बातचीत की। आगे वह कहते हैं कि आखिर वह लड़की बोली क्यों नहीं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि वह झूठ बोल रही है और हो सकता है कि भाजपा से प्रेरित है। कमाल की बात यह है कि तरुण तेजपाल भूल गए कि घटना के तुरंत बाद उन्होंने लड़की को मेल भेजा, 'मैं तुमसे इस बात के लिए बिना शर्त माफी मांगता हूं कि मैंने बहुत ही शर्मनाक विवेकहीनता के कारण दो बार तुम्हारे साथ यौन संबंध स्थापित करने की कोशिश की, जबकि यह बहुत स्पष्ट था कि तुम इसके पक्ष में नहीं हो।'

लड़की के केवल शरीर को ही नहीं, उसके मानस को चोट पहुंचाई गई थी, जब उसने अपने संपादक से शिकायत की, तो वहां से भी उसको सहारा नहीं मिला। अब गोवा पुलिस ने अपनी कार्रवाई शुरू कर दी है और लड़की ने उनके सामने बयान देकर यह सिद्ध कर दिया है कि वह तेजपाल के खिलाफ कानूनी कार्रवाई चाहती है। ऐसा करके उसने उन चंद तथाकथित महिला नेताओं का कथन झुठला दिया है कि शायद लड़की कानूनी कार्रवाई के पक्ष में नहीं है।

दो हफ्ते पहले, एक महिला वकील ने खुलासा किया कि पिछले साल उसके साथ सर्वोच्च न्यायालय के एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश ने लैंगिक छेड़छाड़ की भाषा का इस्तेमाल किया था। जब सर्वोच्च न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश ने इसकी जांच का फैसला लिया, तो एक वकील ने सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष एक याचिका पेश की कि उस वकील की परवरिश भारतीय परंपराओं के अनुसार नहीं हुई है और भारतीय शास्त्रों के अनुसार किसी भी महिला की वाणी पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। उसकी चुप्पी टूटने के बाद कई और शिकायतें सामने आई हैं और सर्वोच्च न्यायालय ने दस सदस्यीय स्थायी जांच समिति का गठन कर दिया है।

अब देखना यह है कि क्या गुजरात की वह महिला चुप्पी तोड़ेगी, जिससे बातचीत के जुर्म में एक आईएएस अधिकारी को निलंबित करके जेल भेज दिया गया था। चुप्पी तोड़ना महिलाओं और लड़कियों के लिए महंगा साबित होता है। हरियाणा की बलात्कार की शिकार दलित लड़की ने जब मुंह खोला, तो उसकी मां की हत्या कर दी गई। लेकिन यह भी सच है कि मुंह खोलकर यातना भुगतने वाली इन लड़कियों और औरतों ने दूसरों के लिए न्याय का दरवाजा खोला है।

अमर उजाला 29.11.2013

सफर में महिला सुरक्षा का सवाल

मुद्दा

मनीषा सिंह

सार्वजनिक परिवहन तंत्र के तहत निजी या सरकारी वाहनों यहां तक कि ट्रेन में चलना सहूलियत भरा चाहे न हो, पर अपेक्षाकृत सुरक्षित अवश्य माना जाता है। इसकी दो वजहें हैं। पहली यह कि उनमें सहयात्री के रूप में कई अन्य लोग भी मौजूद होते हैं। दूसरे, यदि वाहन सरकारी तंत्र का हिस्सा है तो उसमें सरकार की तरफ से सुरक्षा के प्रबंध भी होते हैं। इन स्थितियों में यदि किसी महिला यात्री के साथ छेड़छाड़ या अन्य कोई आपराधिक कृत्य होता है तो सहयात्री उसका बचाव कर सकते हैं और सुरक्षाकर्मी उस महिला को सुरक्षा दे सकते हैं लेकिन विडंबना है कि बसों में, ट्रेनों में महिलाओं के साथ वारदातें बढ़ रही हैं और उन्हें यात्रा के वक्त सुरक्षा का वचन देने वाली व्यवस्था पूरी तरह नदारद और निस्पंद पड़ी है। हाल की कुछ घटनाएं इसकी गवाही देती हैं।

पिछले दिनों एक घटना पटना से आ रही गंगा-दामोदर एक्सप्रेस में घटित हुई। पटना से लौट रही धनबाद और झारखंड से एक स्कूल की 93 लड़कियों और उनकी तीन शिक्षिकाओं के साथ इस एक्सप्रेस ट्रेन में जो कुछ हुआ, वह भारतीय रेलवे की ट्रेनों में महिला सुरक्षा के दावों की पोल खोलने के लिए काफी है। ये सभी दो दिवसीय शैक्षणिक कैंप से लौट रही थी। उनकी सीटें उक्त ट्रेन में आरक्षित थी लेकिन उन पर रेलवे भर्ती परीक्षा देकर लौट रहे अनेक उद्दंड युवाओं ने कब्जा कर रखा था। उन्हें वहां से हटने के लिए कहने पर उन युवाओं ने सभी लड़कियों और उनकी टीचरों के साथ भारी बदसलूकी की। लेकिन मौकेपर न तो रेलवे का कोई मुलाजिम उन्हें बचाने आया और न सुरक्षा बल के किसी जवान ने उनकी सहायता की। भारतीय रेलवे के अधिकारी कह सकते हैं कि यह सिर्फ एक हादसा था और महिलाओं की यात्रा को सुरक्षित बनाने के लिए उसने काफी प्रबंध कर रखे हैं जैसे ज्यादातर ट्रेनों में महिलाओं के आरक्षण का निश्चित कोटा रखा गया है। आरक्षित ट्रेनों में रेलवे पुलिस बल यानी जीआरपी के जवान भी चलते हैं जो ऐसी स्थितियों में महिलाओं की सहायता कर सकते हैं पर सचाई यह है कि ये सारे प्रबंध हवा-हवाई ही हैं।

मुंबई की लेडीज स्पेशल ट्रेनों और दिल्ली की मेट्रो रेल में आरक्षित पहले डिब्बे को छोड़कर महिलाओं के लिए कहीं और निर्धारित कोटे की सीट पुरुषों को नहीं दी जाती है। भारतीय रेलवे को अब यह दावा करना छोड़ देना चाहिए या फिर इस दावे की हकीकत जानने का प्रयास करना चाहिए। भारतीय रेलवे की ट्रेनों में सफर कर रही महिलाएं जानती हैं कि आरक्षित टिकट के साथ भी अब ट्रेनों में यात्रा करना उनके लिए काफी मुसीबत भरा हो रहा है क्योंकि उनकी यात्रा को महफूज करने या रखने वाले इंतजाम सिर्फ दिखावा ही हैं। सचाई यह है कि देश की ज्यादातर ट्रेनों में सिवाय एयर कडीशन डिब्बों के, सभी आरक्षित डिब्बों में गैर- आरक्षित टिकट के साथ भारी संख्या में यात्री सफर कर रहे हैं और उन्हें कोई रोकने-टोकने वाला नहीं है। और यह सब टिकट निरीक्षकों और जीआरपी (रेलवे पुलिस) के जवानों की मिलीभगत से हो रहा है। ज्यादातर स्लीपर कोचों में अनारक्षित, साधारण टिकट और बिना टिकट यात्रियों की भारी संख्या मौजूद रहती है और उनकी शिकायत करने पर न तो टिकट निरीक्षक कोई कार्रवाई करता है और न पुलिस का कोई जवान उन्हें वहां से हटाने की कोशिश करता है। इस कारण आरक्षित डिब्बों में भी अनारक्षित डिब्बों की तरह ही भारी भीड़ हो जाती है। इसका

खमियाजा महिला यात्रियों को उठाना पड़ता है।

भारतीय रेलवे को इस मामले की संवेदनशीलता को समझना होगा। मुद्दा सिर्फ यह नहीं है कि ट्रेनों में महिलाओं को उद्दंड, अराजक और आपराधिक किस्म के लोगों से और छेड़छाड़ या बदतमीजी से बचाया जाए, बल्कि यह है कि जिस सहूलियत के उद्देश्य से वह ट्रेन में अपनी सीट आरक्षित कराती हैं, वह सुविधा उन्हें प्रदान की जाए। असल में मुद्दा उन सुविधाओं से वंचित हो जाने का भी है, जिस सुविधा की अपेक्षा महिलाएं अपनी विशेष आवश्यकताओं के मद्देनजर ट्रेन में आरक्षित सीट के साथ करती हैं। जरूरी नहीं है कि आरक्षित डिब्बों में असामाजिक तत्व ही मौजूद हों, तभी महिलाओं के साथ किसी हादसे की गुंजाइश बनती है। भारी भीड़ की मौजूदगी में भी उनके साथ ऐसे आकस्मिक हादसे हो सकते हैं, जिनकी उम्मीद बेशक कोई न करता हो। अगर किसी ट्रेन के आरक्षित डिब्बों में भी जरूरत से ज्यादा भीड़ हो और सीट से उठकर शौचालय तक जाने का रास्ता भीड़ ने रोक लिया हो, तो गर्भवती या बीमार ही नहीं, बल्कि सामान्य महिलाओं को भी इससे भारी परेशानी हो सकती है। महिलाओं को इन समस्याओं से कितना कष्ट होता है, क्या इसे भारतीय रेलवे का प्रशासनिक अमला समझ पाएगा या फिर वह यही कहेगा कि ऐसी महिलाओं को ट्रेनों से यात्रा ही नहीं करनी चाहिए।

इस मसले को महज ट्रेन की यात्रा तक सीमित कर देना और भी संकीर्णता भरा है। व्यापक फलक पर और बड़े संदर्भ में इस समस्या को देखा जाएगा। ट्रेन की यात्रा का उद्देश्य और उसमें पड़ने वाले विघ्न से होने वाली समस्याओं का मर्म समझ में आएगा। गौरतलब है कि शिक्षा और नौकरियों में पुरुषों के बराबर आने की कोशिश करते हुए महिलाओं की हर क्षेत्र में सार्वजनिक उपस्थिति बढ़ रही है। वे विभिन्न खेल आयोजनों में हिस्सा ले रही हैं, नौकरी अथवा व्यवसाय के मद्देनजर छोटी अथवा लंबी दूरियों की यात्रा कर रही हैं। दिल्ली की मेट्रो अथवा मुंबई की लोकल ट्रेनों में नौकरी या बिजनेस के उद्देश्य से रोजाना यात्रा करना एक बात है, लेकिन नौकरी के लिए इंटरव्यू देने जाते समय या कहीं किसी समारोह में व्याख्यान देने के लिए जाते समय लंबी दूरियों की यात्रा करते वक्त महिलाओं को अधिक सुरक्षा की जरूरत महसूस होती है। वहां वे अपेक्षा करती है कि वे न सिर्फ समय पर और सुरक्षित अपने गंतव्य पर पहुंचें, बल्कि उन्हें यात्रा झेले गए कष्टों की वजह से याद न रहे।

विकसित देशो में तो ट्रेनों, बसों से लेकर सड़कों और इमारतों तक में लगी लिफ्टों में ऐसे इंतजाम होते हैं कि विकलांग लोग भी सहज और सुरक्षित ढंग से कहीं भी आ-जा सकते हैं। लेकिन अपने देश में तो ट्रेन में आरक्षण के बावजूद महिलाओं को तरह-तरह की समस्याओं और प्रताड़नाओं से रूबरू होना पड़ रहा है। यह बड़ी विडंबना की बात है कि महिला सशक्तीकरण का नारा उछालने वाली सरकारों को महिलाओं के सम्मान और सुरक्षा का प्रश्न खड़ा करने वाली ये घटनाएं न तो नजर आ रही है और न ही उन्हें इन मुद्दों को लेकर कोई फिक्र है। ऐसा लगता है कि सरकार को सिर्फ शहरों में रहने वाली अभिजात्य समाज की लड़कियों और महिलाओं की फिक्र है क्योंकि उनके साथ होने वाली कोई घटना बड़ी जल्दी मीडिया की सुर्खियों में आ जाती है। अगर ऐसा नही है तो फिर ट्रेन-बसों और छोटी-छोटी जगहों पर अत्याचार झेलने वाली महिलाओं के साथ होने वाली घटनाओं के खिलाफ कोई बड़ी कार्रवाई क्यों नहीं हो रही और ऐसे तात्कालिक प्रबंध क्यों नहीं किए जा रहे है ताकि दोबारा ऐसी घटनाएं न हों। पिछले साल की 16 दिसंबर की घटना के बाद लगा था कि देश में महिलाओं की सुरक्षा और सम्मान एक बड़ा सामाजिक-राजनीतिक अजेंडा बना है लेकिन लगता है वह एक तात्कालिक उफान भर था। महिलाओं को लेकर समाज के नजरिए में एक बड़े बदलाव की जो उम्मीद पैदा हुई थी, वह एक शाब्दिक बहसबाजी में सिमट कर रह गई।

राष्ट्रीय सहारा 26.12.2013

स्त्री सशक्तीकरण और महिला बैंक

अरविंद कुमार सेन

किसी गंभीर समस्या और उसके समाधान को प्रतीक तक सीमित कर देने की ताजा मिसाल भारतीय महिला बैंक है। यूपीए सरकार ने उषा अनंतसुब्रमण्यम को भारतीय महिला बैंक की प्रबंध निदेशक नियुक्त किया और शुरुआती पूंजी के तौर पर बैंक के लिए एक हजार करोड़ रुपए की रकम मंजूर की है। दो रोज पहले इस बैंक ने काम करना शुरू कर दिया, जब प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी और वित्तमंत्री की मौजूदगी में इसका उद्घाटन किया। सात शाखाओं के साथ इसकी शुरुआत की गई है और अगले साल मार्च तक शाखाओं की संख्या पच्चीस तक ले जाने का लक्ष्य तय किया गया है। एक ऐसे दौर में जब हर रोज बलात्कार और महिलाओं पर तेजाब फेंकने की खबरें आतीं हैं, यूपीए सरकार भारतीय महिला बैंक का पदक लेकर अपना सीना फुलाने में लगी हुई है। क्या महिला बैंक की इस कवायद से देश की औरतों को कुछ फायदा होगा?

दुष्कर्म की घटनाओं के मद्देनजर संस्कृति के पेटेंटधारी महिलाओं के लिए आचार संहिता जारी करते हैं। महिलाओं को पूरे कपड़े पहन कर रहना चाहिए और सांझ ढलने के बाद सार्वजनिक जगहों पर नहीं जाना चाहिए। सार्वजनिक जगहों पर घूमने वाले गुंडों या गलत नजर वालों को नहीं, बल्कि महिलाओं को ही सुधरना होगा। लेकिन क्यों, इसलिए कि शील-रक्षकों का गहरा विश्वास है कि सार्वजनिक जगहों पर पुरुषों का ही एकाधिकार है और महिलाओं को इन जगहों पर समायोजित नहीं किया जा सकता। भारतीय महिला बैंक इसी वर्चस्व को मजबूत करने की एक और कवायद है। महिलाओं के खास तरह की सहूलियतें देने के नाम पर यह लिंग आधारित भेदभाव है। महिलाओं के लिए अलग पिंजरा बना दिया गया है जिसके भीतर वे बैंकिंग सुविधाओं का इस्तेमाल कर सकती हैं। प्रतीकवाद का यह सबसे खतरनाक रूप है, जो किसी समाज की मानसिकता पर गहरे घाव छोड़ता है।

सवाल है, महिलाओं के लिए अलग बैंक खोलने की क्या जरूरत है। क्या पुरुषों की तरह महिलाएं मौजूदा बैंकों की मार्फत लेन-देन नहीं कर सकती हैं। क्या देश में पहले से मौजूद ग्रामीण, सरकारी, निजी और विदेशी बैंकों ने महिलाओं को बैंकिंग सुविधाएं देने से मना कर दिया है। हां, देश की अधिकतर महिलाएं बैंकिंग सुविधाओं से महरूम हैं। इसलिए नहीं कि मौजूदा बैंकों में उनको बैंकिंग सेवाएं नहीं मिलती हैं, बल्कि इसलिए कि इस देश के रोम-रंध्र में धंसे सामंतवादी सोच ने उन्हें वित्तीय दायरे से बाहर रखा है। परिवार के आर्थिक लेन-देन पर पुरुषों का कब्जा है, महिलाओं में अशिक्षा पुरुषों के मुकाबले ज्यादा है, समाज में हर पायदान पर उनको पीछे धकेला जाता है और देश का बड़ा हिस्सा बैंकिंग संस्थाओं के दायरे से बाहर है। भारतीय महिला बैंक के जरिए इनमें से एक भी मुश्किल का समाधान नहीं होगा। महिला बैंक, महिला डाकघर जैसी प्रतीकवादी कवायदों के कारण महिलाओं के जन्मजात अधिकारों को सरकार ने खैरात या रियायत में बदल दिया है।

सार्वजनिक जगहों पर महिलाओं के बराबर अधिकार की जगह ऐसे प्रतीकों के जरिए सरकार खास दड़बे खड़े करती जा रही है। ऐसी कसरतों से महिलाओं के साथ बरता जाने वाला भेदभाव और ज्यादा मजबूत होता जाता है। महिलाओं के लिए अलग बैंक बना कर सरकार क्या यह जताना चाहती है कि देश में पहले से ही मौजूद छब्बीस राष्ट्रीयकृत बैंकों और दस से ज्यादा निजी बैंकों में महिलाओं के लिए जगह नहीं है। क्या महिला बैंक से महिलाओं को कम ब्याज दर पर ऋण मिलेगा या महिलाओं से कम परिचालन शुल्क लिया जाएगा? अगर नहीं तो इस बैंक से क्या हासिल होगा? विडंबना यह है कि मौजूदा बैंकों से बैंकिंग सुविधाएं हासिल करने के महिलाओं के अधिकार को सरकार ने पुरुषों के विशेषाधिकार में बदल दिया है। महिला विशेष बैंक के जरिए ऐसे दड़बे बनाए जा रहे हैं जहां महिलाओं को अपने कुदरती अधिकार को इस्तेमाल करने के लिए सरकार या कथित समाज की सहमति लेनी पड़ती है। अगर वाकई यूपीए सरकार उन्हें संस्थागत बैंकिंग के दायरे में लाना चाहती है तो इस समस्या की जड़ पर वार क्यों नहीं किया जाता।

एक पल के लिए सरकार के इरादों को नेक मान भी लिया जाए तो भी उसके फैसले इस विश्वास को तोड़ते हैं। सरकार के पास चौबीस राष्ट्रीयकृत और अस्सी ग्रामीण बैंकों का जखीरा पहले से मौजूद है। अहर यह कम मालूम होता है तो मौजूदा सरकारी बैंकों की शाखाओं का विस्तार क्यों नहीं किया जाता है? देश की साठ फीसद से ज्यादा आबादी बैंकिंग-सुविधाओं से वंचित है। महिलाएं ही नहीं, शहरों के 'इंडिया' से बाहर रहने वाले लोगों के लिए भी बैंकिंग-सुविधाएं आसमान का सितारा बनी हुई हैं। संस्थागत बैंकिंग तक पहुंच नहीं होने के कारण देश की आबादी का यह बड़ा हिस्सा साहूकारों, चिटफंड और सूक्ष्मसाख कंपनियों के चंगुल में फंसा हुआ है। आए दिन सामने आने वाले चिटफंड घोटाले इस बात का सबूत हैं कि ग्रामीण लोग भी बेहतर प्राप्ति की आस में निवेश करना चाहते हैं। बेशक उनकी रकम छोटी है। चूंकि भारतीय वाणिज्यिक बैंक महानगरों की सीमाओं से बाहर नहीं निकल पाए हैं और शेयर बाजार में निवेश करने के लिए जरूरी वित्तीय जानकारी का अभाव है, लिहाजा ग्रामीण लोग अपनी खून-पसीने की कमाई कई गुना प्रतिफल का लालच दिखाने वाली चिटफंट कंपनियों की भेंट चढ़ा देते हैं।

परिवार के आर्थिक लेन-देन पर पुरुषों का कब्जा है, महिलाओं में अशिक्षा पुरुषों के मुकाबले ज्यादा है, समाज में हर पायदान पर उनको पीछे धकेला जाता है और देश का बड़ा हिस्सा बैंकिंग संस्थाओं के दायरे से बाहर है। भारतीय महिला बैंक के जरिए इनमें से एक भी मुश्किल का समाधान नहीं होगा।

भारतीय महिला बैंक भी पहले से बनी हुई लकीर से हट कर नहीं चलने जा रहा है। सबसे पहले महिला बैंक की शाखाएं देश के पांच बड़े महानगरों में खोली जाएंगी। याद रहे, पांच बड़े महानगर ही नहीं, बल्कि दस लाख से ज्यादा आबादी वाले देश के सारे नगर बैंक शाखाओं की अधिकता की समस्या से जूझ रहे हैं। शहरी इलाकों में कारोबार ज्यादा है और लागत कम होने के कारण एक नई बैंक शाखा महज एक साल के भीतर ही 'ब्रेकइवन' (न नफा न नुकसान की स्थिति) में आ जाती है। जबकि ग्रामीण इलाकों में खराब आधारभूत ढांचे के चलते लागत ज्यादा है और कारोबार कम होने के कारण एक नई बैंक शाखा को न नफा न नुकसान की स्थिति में आने के लिए तीन से पांच साल लगते हैं।

सवाल उठता है कि भारतीय महिला बैंक दिल्ली और मुंबई में शाखाएं खोल कर कौन-सी मिसाल कायम करना चाहता है। देश में परिचालन कर रहे हर एक देशी-विदेशी और निजी-सरकारी बैंक की शाखाएं इन शहरों में मौजूद हैं। अगर महिलाओं को बैंकिंग सुविधाओं का फायदा पहुंचा कर उन्हें आर्थिक तौर पर मजबूत बनाना सरकार का मकसद था तो भारतीय महिला बैंक रूपी प्रतीक की शुरुआत नई दिल्ली के बजाय लखीमपुर खीरी या कालाहांडी से की जानी चाहिए थी। दरअसल, भारतीय महिला बैंक की बुनियाद भी बैलेंसशीट और मुनाफे की उसी नोक पर रखी गई है जिस पर देश के मौजूदा बैंक टिके हुए हैं।

इसमें दो राय नहीं कि अगर अवसर दिया जाए तो वित्तीय प्रबंधन और नया कारोबार शुरू करने के मामले में महिलाएं, पुरुषों से पीछे नहीं रहेंगी। इला भट्ट के गैर-सरकारी संगठन 'सेवा' जैसे देश भर में फैले स्वयं सहायता समूहों (एसएचजी) का तंत्र इस बात का गवाह है कि महिलाओं को आर्थिक रूप से सबल बनाना, उनको मौजूदा सामंती कैदघरों से आजाद कराने का सबसे बेहतर रास्ता है। क्या आनंद दुग्ध संगठन (अमूल) की स्थापना करने वाले वर्गीज कुरियन महिला थे? क्या अमूल डेयरी के प्रबंधन बोर्ड में महिलाएं हैं और क्या अमूल ने केवल महिला संचालित दुग्ध वितरण केंद्र खोले हैं? अमूल डेयरी ने इनमें से एक भी काम नहीं किया है, इसके बावजूद देश की स्त्रियों के आर्थिक सशक्तीकरण में अमूल का नाम भारतीय महिला बैंक से पहले लिखा जाएगा।

असल में अमूल ने अशिक्षित ग्रामीण महिलाओं के कौशल को बेहतर तरीके से बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों के सामने लाकर खड़ा कर दिया है। अमूल ने ग्रामीण महिलाओं को उनके उत्पाद का बेहतर दाम देकर आर्थिक रूप से पुरुषों की जकड़ से आजाद किया है। सेवा जैसे स्वयं सहायता समूहों ने आसान शर्तों पर कमजोर तबके की ग्रामीण महिलाओं को ऋण देकर उनको कारोबार- चाहे वह पापड़ बनाने-बेचने जैसे छोटा उद्योग हो- की दुनिया में उतरने का साहस दिया है।

यह कोई मसला ही नहीं है कि बैंक पुरुष या महिला में से कौन चला रहा है। एक समाज के तौर पर हम यह सच मानने को ही तैयार नहीं हैं कि महिलाएं भी वित्तीय प्रबंधन कर सकती हैं, नया कारोबार शुरू कर सकती हैं या आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हैं। एक बैंक अपने ग्राहकों का पैसा जमा करता है और तयशुदा पैमानों पर खरा उतरने वाले ग्राहकों को ऋण देता है। महिला बैंक क्या करेगा, जबकि हमारे समाज के मर्द महिलाओं को वित्तीय हक या हिस्सेदारी देने को तैयार ही नहीं हैं।

अगर मौजूदा बैंकों के व्यवहार में कोई लिंग आधारित भेदभाव होता है तो इसके लिए सरकार को नए महिला बैंक का खोल तैयार करने के बजाय सारे बैंकों के भेदभाव वाले व्यवहार को बदलने की मुहिम छेड़नी चाहिए थी। भारतीय महिला बैंक में नएपन के नाम पर कुछ नहीं है और यह इस देश की औरतों का भला नहीं करेगा। दलितों, पिछड़ों और मुसलिमों के साथ भी बैंकिंग सुविधाओं के मामले में भेदभाव होता है और इस बाबत ऋण वितरण जैसे कई पैमानों पर आंकड़े मौजूद हैं। तब सरकार क्यों नहीं दलितों, पिछड़ों और मुसलिमों के लिए अलग बैंक खोल रही है!

भारतीय महिला बैंक समाज के सोच में व्यापक संरचनात्मक बदलाव की मांग कर रही एक बेहद गंभीर समस्या को संकुचित दृष्टि से देखने की मिसाल भर है। बलात्कार से बचने के लिए घर में कैद रहने की सलाह और खास तरह की आचार संहिता जारी करने जैसे उपायों के बीच हम एक खास सोच की निशानदेही कर सकते हैं। बहरहाल, अमृता प्रीतम के कालजयी उपन्यास 'पिंजर' पर इसी नाम से बनी फिल्म के चरमोत्कर्ष के दृश्य में नायिका पुरो से दूसरी महिला किरदार लाजो कहती है कि बहन, इस मारकाट से सब हम पर ही अधिकार क्यों जमाना चाहते हैं। जवाब में पुरो कहती है, 'क्योंकि हम खामोश हैं।'

sarvindna@gmail.com

जनसत्ता 21.11.2013

बैंकिंग और महिलाओं की आजादी

करीब चार दशक पहले 1975 में मैक्सिको में संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में वूमेंस वर्ल्ड बैंकिंग के जिस विचार ने जन्म लिया था, लगता है, अब वह भारत में साकार होने को है। इधर देश के सबसे बड़े बैंक भारतीय स्टेट बैंक के मुखिया का पद एक महिला अरुंधति भट्टाचार्य ने संभाला है, तो उधर उम्मीद है कि अगले महीने देश का पहला पूर्णतया महिला बैंक काम करना शुरू कर देगा। यह स्थिति देश के बैंकिंग क्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव की उम्मीद जगाती है। अभी दुनिया में सिर्फ सऊदी अरब में पूर्णतः महिलाओं द्वारा संचालित (ऑल वूमेन) बैंक काम कर रहा है। इस साल, आम बजट में वित्तमंत्री पी. चिदंबरम ने घोषणा की थी कि एक हजार करोड़ की व्यवस्था के साथ हमारे देश में भी नवम्बर तक इसी तरह का पहला ऑल वूमेन बैक खोला जाएगा।

वैसे बैंकिंग में मौजूदा समय में शीर्ष पदों पर महिलाओं की जो उपस्थिति है, वह उनको गृहलक्ष्मी कहने के भारतीय संदर्भ को ही चरितार्थ करती है। भारतीय स्टेट बैंक के अलावा अन्य बैंकों के शीर्ष पदों पर भी महिलाएं ही विराजमान हैं। जैसे आईसीआईसीआई बैंक में चंदा कोचर चेयरमैन हैं तो इलाहाबाद बैंक में शुभलक्ष्मी पानसे, एक्सिस में शिखा शर्मा और यूनाइटेट बैंक ऑफ इंडिया में अर्चना भार्गव महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभा रही हैं। देश के बैंक ऑफ इंडिया में विजयलक्ष्मी अय्यर के साथ विदेशी बैंकों की भारतीय शाखाओं के प्रमुख के पद पर भी महिलाएं हैं, जैसे बैंक ऑफ अमेरिका मेरिल लिंच में काकू नाखटे और एचएसबीसी में नैना लाल किदवई अरसे से इस बैंक की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी संभाल रही हैं।

इससे दो चीजें बिल्कुल साफ हो गई हैं। पहली कि हिसाब-किताब में महिलाओं को कमजोर कहकर उन्हें रुपये-पैसे से दूर रखने की जो परिपाटी देश में सदियों से कायम रही है, वह सिरे से गलत साबित हुई है। दूसरे, महिलाएं घर की मुखिया के रूप में परिवार का सचालन नही कर सकती हैं, यह मिथक भी पूरी तरह टूट चुका है। सरकार ने इस साल जिस तरह पूर्णतया महिला बैंक बनाने की पहल की है, उससे प्रतीत हुआ है कि सरकार का ध्यान महिलाओं से जुड़े उस पहलू की तरफ गया है जिसकी वजह से सदियों से देश के पितृसत्तात्मक समाज में उनकी स्थिति सबसे कमजोर, बल्कि दीन-हीन याचक जैसी बनी हुई है। पर क्या इन तब्दीलियों और कोशिशों को सार्थक बदलाव माना जाए। सवाल है कि क्या इस प्रयास से देश की महिलाओं की आर्थिक हैसियत में कोई बदलाव आ पाएगा!

आर्थिक आजादी के सवाल यूं तो स्त्री और पुरुष, दोनों के लिए समान रूप से लागू होती है, पर तमाम अर्थो में महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता कही ज्यादा मायने रखती है। कुछ वर्ष पूर्व भारत में महिलाओं के सामाजिक-आर्थिक उत्थान के लिए काम करने वाली संस्था- सेल्फ एम्प्लायड वूमेंस एसोसिएशन (सेवा) की संस्थापक और मैगसेसे अवार्ड विजेता इला भट्ट ने कहा था कि बैंक की पासबुक के बिना स्त्री की आजादी मुमकिन नहीं है। उनका यह कथन भी गौरतलब है कि हमारे देश में कुछ महिलाओं को जब से पासबुक की ताकत हासिल हुई है, उन्होंने दिखा दिया है कि बचत, ईमानदारी और आर्थिक प्रबंधन में उनका कोई सानी नही है। देश में सेवा बैंक के माध्यम से पिछले करीब एक दशक में लाखों महिलाओं ने महज पांच या दस रुपये रोज बचाकर वह आत्मनिर्भरता हासिल कर ली है, जो उन्हें अनुनय-विनय या याचना से कदापि नही मिल सकती थी।

हां, भारतीय परिप्रेक्ष्य में महिलाओं की आर्थिक आजादी पर चिंतन करते वक्त कुछ वास्तविकताओं पर गौर जरूरी है। जैसे, पुरुष-प्रधान समाज में स्त्री की किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता के बारे में गंभीरता से नही सोचा गया। आर्थिक मामलों से तो उसे दूर रखने की एहतियात आज का तथाकथित आधुनिक पुरुष वर्ग तक बरतता है। ऐसे में, घरों में कैद रहने वाली या आसपास के घरों अथवा खेतों में काम करने वाली 94 फीसद महिलाएं भला कैसे जीवन में किसी सुधार की अपेक्षा कर सकती है। यह विडंबना ही है कि बीड़ी बनाने, रंगाई, सिलाई-कढ़ाई, टोकरी की बुनाई, गलियों में फेरी लगाकर सामान बेचने या खेतों में काम करने से होने वाली थोड़ी-बहुत आय पर भी ज्यादातर मामलों में पुरुषों का कब्जा बना रहता है। तमाम महिलाएं अपनी कमाई पति को देकर इस भाव से निश्चिंत रहती हैं कि पैसा घर में ही तो रहा।

महिलाओं की आर्थिक आजादी कई कारणों से जरूरी है। जैसे माना जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का जीवनकाल अधिक होता है। कई मौकों पर पति की मृत्यु के बाद उन्हें शेष जीवन या तो बच्चों के सामने मोहताज बनकर या फिर परित्यक्तता-विधवा के रूप में बिताना पड़ता है। वृंदावन के आश्रमों में रहने वाली हजारों विधवाओं की नारकीय स्थिति को देखने से साफ पता चलता है कि एक विधवा के रूप में तमाम महिलाओं को अत्यधिक तिरस्कृत जीवन इसी कारण जीना पड़ता है, क्योंकि उनके हाथ में थोड़ी भी जमापूंजी नहीं होती। यही नही, तलाक और अलगाव के मामलों में भी देखने में आया है कि गुजारा भत्ता न मिल पाने की दशा में महिलाओं की स्थिति अत्यंत दयनीय हो जाती है।

कामकाजी महिलाएं जानती हैं कि वेतन के रूप में मिलने वाली धनराशि उनके जीवन में कितनी आजादी, कितना सुकून और कितनी आत्मनिर्भरता लाती है। खास तौर से वे महिलाएं अपने जीवन और भविष्य को लेकर और ज्यादा निश्चितता महसूस करती हैं, जिनके बैंक खाते में ठीक-ठाक रकम जमा हो और जिसके मनचाहे उपयोग को लेकर वे स्वतंत्र हों। यह भी गौरतलब है कि देश की हजारों कामकाजी महिलाएं पूरी गृहस्थी का खर्च अकेले बूते चला रही हैं। हालांकि इस ट्रेंड में एक नुक्स यह है कि महिलाएं अपने बुढ़ापे के लिए पर्याप्त बचत नहीं कर पाती है, इसलिए अगर वे स्वास्थ्य या चिकित्सा बीमा जैसी योजनाओं में अपना कुछ धन लगाएं, तो निश्चय ही आने वाला दौर में महिलाओं की स्थिति में गुणात्मक सुधार हो सकता है। कहा जा सकता है कि बैंकिंग में महिलाओं की बढ़ती उपस्थिति आर्थिक ही नहीं, सामाजिक हैसियत सुधारने में मददगार साबित हो सकती है।

राष्ट्रीय सहारा 29.10.2013

कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न रोकने के लिए दिशा-निर्देश

नई दिल्ली, 15 अक्तूबर (भाषा)। राष्ट्रीय महिला आयोग (एनसीडब्ल्यू) ने कार्यस्थलों पर यौन उत्पीड़न के मामलों से निपटने और ऐसी घटनाओं से बचने के लिए केंद्र को दिशा-निर्देश जारी किए हैं।

आयोग ने सरकार से कहा है कि ऐसे मामलों से निपटने के लिए वह अपने विभिन्न विभागों, संस्थानों और स्वायत्त निकायों में सुप्रीम कोर्ट के दिशा-निर्देश के अनुरूप आंतरिक शिकायत समिति (आइसीसी) का गठन सुनिश्चित करे। आयोग ने प्रबंधन के शीर्ष अधिकारियों के लिए जागरूकता कार्यशाला लगाने का भी सुझाव दिया है।

आयोग ने आठ अक्तूबर को सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सचिव को भेजे पत्र में सुझाव दिया है कि आइसीसी के बारे में पोस्टरों और बैनरों के जरिए विज्ञापन किया जाना चाहिए और उनमें सदस्यों से संपर्क के लिए ब्योरे भी प्रकाशित किए जाने चाहिए। आयोग ने अपने पत्र में कहा कि इन पोस्टरों को प्रमुख स्थानों पर लगाया जाना चाहिए ताकि यौन उत्पीड़न के मुद्दे पर जागरूकता फैलाई जा सके।

आयोग ने सिफारिश की है कि सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि यौन उत्पीड़न के संबंध में किसी महिला द्वारा शिकायत किए जाने पर उसे किसी नकारात्मक नतीजों का सामना नहीं करना पड़े। सिफारिशों में यह भी कहा गया है कि आरोपी किसी भी कद का या कितना भी वरिष्ठ क्यों नहीं हो, सभी शिकायतों पर गौर किया जाए।

आयोग ने सरकार से कहा कि कार्यस्थल पर महिलाओं को यौन उत्पीड़न से निवारण, रोकथाम और निपटारा कानून 2013 को लागू किया जाए। राष्ट्रपति ने 22 अप्रैल को ही इसे मंजूरी दे दी है। आयोग ने सूचना प्रसारण मंत्रालय से कहा था कि वह मीडिया में महिलाओं को अभद्र तरीके से पेश करने के मामले में सख्त कदम उठाए।

जनसत्ता 16.10.2013

आईपीसी के नए प्रावधान

क्या हैं कार्यस्थल के मानक

- **सेक्शन 354ए :** शारीरिक यौन उत्पीड़न पर तीन वर्ष के कारावास का प्रावधान।
- **सेक्शन 354बी :** किसी महिला को जबरन निर्वस्त्र करने की नीयत से हमला करने पर तीन से सात वर्ष के कारावास का प्रावधान।
- **सेक्शन 375 और 376 :** अगर किसी महिला की इच्छा के विपरीत कोई व्यक्ति अपने किसी भी भाग से किसी महिला के जननांगों को छेड़ता है तो उसे सश्रम सात वर्ष से आजीवन कारावास की सजा।

- यौन उत्पीडन के मामलों की सुनवाई के लिए प्रत्येक नियोक्ता एक 'आंतरिक शिकायत समिति' अनिवार्य रूप से बनाएगा।
- इस समिति में एक वरिष्ठ महिला कर्मचारी के साथ किसी एनजीओ या महिला संगठन की एक महिला को भी शामिल किया जाएगा। पीड़ित महिला कर्मचारी उत्पीड़न की शिकायत समिति को लिखित रूप से देगी।
- किसी व्यक्ति के खिलाफ जांच सही पाए जाने पर समिति व्यक्ति को कदाचार के आरोप में उसकी सेलरी कटवा कर महिला कर्मचारी को उसके हजनि के रूप में देने का सुझाव दे सकती है।
- यौन उत्पीड़न के दायरे में पुरुष द्वारा महिला के साथ किसी अप्रिय व्यवहार के आलावा, शारीरिक संबंध के लिए आग्रह करना, किसी चित्र या आकृति के द्वारा उसे शारीरिक संबंध बनाने के लिए उत्प्रेरित करना या फिर अश्लील वीडियो दिखाना शामिल है।

राष्ट्रीय सहारा 23.11.2013

कार्यस्थल पर महिलाओं के साथ होने वाला यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और सुधार) एक्ट 2013 ''कोई भी महिला किसी भी कार्यस्थल पर, चाहे वह नीजि हो या सार्वजनिक, चाहे वह वहां नौकरी करती हो या नहीं, उसके साथ यौन उत्पीड़न नहीं हो सकता।''

यौन उत्पीड़न को परिभाषित किया गया है एस.3 (2) एस एच ए के अंतर्गतः

1. लागू किया जाने वाला और विषिश्ट

क. नौकरी में पक्षपातपूर्ण रवैया होने का आश्वासन देना

ख. नौकरी में पक्षपातपूर्ण रवैया होने की धमकी देना

ग. उसके पिछले और भविश्य के नौकरी की स्थिति की धमकी देना।

2. उसके काम में दख़ल देना या उसके लिए धमकी भरा, भयपूर्ण और शत्रुतापूर्ण काम का माहौल तैयार करना।

3. तिरस्कार पूर्ण व्यवहार का उसके स्वास्थ्य और सुरक्षा पर असर होना।

कार्यस्थल एस.2(0) के अंतर्गत वे हैं

1. एक सरकारी विभाग/संस्था

2. एक नीजि क्षेत्र संस्थान/संस्था

3. अस्पताल/नर्सींग होम

4. खेल कॉम्पलेक्स

5. वे सारी जगहें शामिल हैं जो नौकरी के दौरान एक कर्मी दौरा करती है। यहां तक कि वे यातायात के साधन भी इसमें शामिल हैं जिन्हें मालिक ने इस्तेमाल के लिए उपलब्ध कराया है।

शिकायत समितिः इस कानून के अनुसार, हर मालिक को, जिसके यहां 10 या उससे ज्यादा सदस्य नौकरी करते हैं, उसे आंतरिक शिकायत समिति का गठन करना होगा जहां कार्यस्थल पर होने वाली यौन हिंसा (एस.4, एसएचए) की शिकायत के मामले को देखा जा सके। इस समिति के बनाने में अक्षम होने पर या समिति के सुझावों पर काम न करने की स्थिति में संस्थान के मालिक पर जुर्माना रू.50,000/– (पहली दफ़ा) और (दूसरी दफ़ा) होने पर जुर्माने की रकम दुगनी और पेशे का लाइसेन्स रद्द कर दिया जाएगा (एस.26, एसएचए)

मालिक की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत हिंसक के ख़िलाफ़ एक्शन ले और पीड़ित महिला को मदद करे, यदि वह भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत खुद ही कोई कदम उठाना चाहती है (एस.19,एसएचए)

यदि आंतरिक शिकायत समिति नहीं बनाई गई है, तो महिला जिला ऑफिस (एस,5,एसएचए) द्वारा बनाई गई स्थानीय शिकायत समिति में अपनी शिकायत दर्ज करा सकती है।

इस अधिनियम के अंतर्गत शिकायत दर्ज करनाः महिला अपने पर हुई यौन हिंसा की रिपोर्ट 3 महीने के अंदर आंतरिक/स्थानीय समिति (एस.9,एसएचए) के पास करा सकती है। यदि महिला स्वंय शिकायत कराने में असक्षम होती है, जैसे जब उसे मानसिक/शारीरिक अक्षमता हो या उसकी मौत हो गई हो तो ऐसी स्थिति में उसकी कानूनी उत्तराधिकारी शिकायत दर्ज करा सकती/सकता है।

पूछताछ के दौरान तबादला हो जानाः

1. पीड़ित महिला या प्रतिवादी किसी का भी तबादला हो सकता है।
2. हो सकता है कि उसे 3 महीने का अवकाश मिला हो।
3. हो सकता है कि सरकार द्वारा अन्य सहायता भी उपलब्ध कराई गयी हो।

जांच/पूछताछ का परिणामः आंतरिक/स्थानीय शिकायत समिति अपनी पूछताछ की प्रक्रिया के बाद हो सकता है कि मालिक को 60 (एस.13, एसएचए) दिनों के भीतर ही प्रतिवादी के ख़िलाफ़ यौन उत्पीड़न के अपराध के लिए कार्रवाई करने को कहे। जो सर्विस नियम और सरकार द्वारा दुराचार निर्धारित किया गया है या फिर प्रतिवादी के वेतन से पर्याप्त मात्रा में राशि काट ली जाए। पीड़ित महिला सरकार द्वारा नियुक्त की गई कोर्ट/ट्रिब्यूनल से भी जांच या पूछताछ के लिए अपील कर सकती है। समिति के सुझाव के बाद यह अपील 90 दिनों के भीतर हो जानी चाहिए।

यह लेख जागोरी द्वारा प्रकाशित पुस्तिका "यौन उत्पीड़न युवा वयस्कों व किशोरों के लिए नुस्खे" से लिया गया हैं। पुस्तिका के लिए distribution@jagori.org पर संपर्क करे.

कार्यस्थल पर लैंगिक भेदभाव कायम

नई दिल्ली (एजेंसी)। देश में यौन उत्पीड़न के आरोपों की बढ़ती खबरों के बीच विशेषज्ञों ने कहा कि कार्यस्थलों पर लैंगिक भेदभाव और यौन उत्पीड़न के मामलों के प्रति कर्मचारियों को संवेदनशील बनाने के लिए संस्थानों को अभी बहुत कुछ करना है।

हाल ही में इस तरह के आरोपों का सामना करने वाले तरुण तेजपाल भी उन लोगों की सूची में शामिल हो गए हैं, जिसमें फणीश मूर्ति (इंफोसिस और आइगेट), डेविड डेविदार (पेंगुइन) और गोपाल कांडा (एमडीएलआर एयरलाइन्स) के नाम हैं। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार इस तरह के मामले कार्यस्थलों पर गहरे तक पैठ बना चुके लैंगिक भेदभाव को उजागर करते हैं। यह सारे मामले इस हकीकत को बयां करते हैं कि भारत में अधिकतर दफ्तरों में इस तरह के वाकयों से निपटने के लिए पर्याप्त तंत्र नहीं है। दिल्ली में पिछले साल दिसम्बर में घटी सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद दुनिया भर में विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र को आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। इसके बाद भारत ने यौन हिंसा को लेकर कड़ा रुख अख्तियार किया।

पीएक्सवी लॉ पार्टनर्स के वकील कौस्तुभ मणि के अनुसार

- कानून को इसी साल अप्रैल में संसद की मंजूरी मिली थी

अधिकतर संगठनों में अब भी कार्यस्थल पर महिलाओं का यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और निबारण) अधिनियम, 2013 का पालन करना शुरू नहीं किया गया है। इस कानून को इस साल अप्रैल में संसद की मंजूरी मिली थी और केंद्र ने इसे अभी अधिसूचित नहीं किया है। इसमें प्रावधान है कि सभी संस्थानों को कार्यशालाओं और सेमिनारों का आयोजन करके यौन उत्पीड़न के विषय पर अपने कर्मचारियों को संवेदनशील बनाना है। मणि ने कहा कि 'सबसे ज्यादा दुख की बात है कि अनेक संगठनों ने विशाखा मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा तय किए गए दिशानिर्देशों को अपनाने तथा लागू करने की भी जरूरत नहीं समझी।' उन्होंने कहा कि बड़ी कंपनियां इस मुद्दे पर हमेशा से संवेदनशील रहीं हैं और उनके पास इस तरह के मामलों को संभालने के लिए अलग से प्रकोष्ठ हैं।

अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार कार्यस्थलों पर महिलाओं की भागीदारी के मामले में भारत 131 देशों की सूची में नीचे से 11वें स्थान पर आता है। गैर-सरकारी संगठन 'सेंटर फॉर ट्रांसफॉर्मिंग इंडिया' द्वारा कार्यस्थलों पर महिलाओं के उत्पीड़न के विषय पर कराए गए सर्वेक्षण के अनुसार महिला कर्मियों के बीच इस तरह के मुद्दों को लेकर जागरूकता का स्तर बहुत कम है और उनमें से अधिकतर अपने कॅरियर पर खतरे के डर से कठिन परिस्थिति का सामना करती रहती हैं।

राष्ट्रीय सहारा 02.12.2013

सहजीवन के सामाजिक सरोकार

डॉ. सुकान्त चौधरी

भारतीय समाज में लिव-इन-रिलेशनशिप को लेकर जो बहस छिड़ी है, उसके परिप्रेक्ष्य में वैवाहिक संदर्भो को समझ लेना बेहतर होगा। दरअसल, विवाह स्त्री एवं पुरुष के बीच संघ है जिसमें स्त्री से जन्मित संतान उस दम्पति की वैध संतान होती है। यह विवाह की पारंपरिक परिभाषा है। इसमें विवाह के दो तत्व सामने आते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष के बीच यौन संबंध और संतानों की वैधता प्रमुख है। इसके अलावा विवाह में कई और तत्व सामने आते हैं। विवाह साथियों के बीच कुछ अधिकारों व उत्तरदायित्वों का विनिमय, कुछ आर्थिक विनिमय (दहेज, उपहार, स्त्री धन, मेहर, वधु मूल्य आदि), विवाह समारोह, गृहस्थी की अवधारणा व रक्त संबंधियों व विवाह संबंधियों के मध्य निरंतर संबंध।

लोग मानते हैं कि उपरोक्त तरीके से विवाह ही सार्वभौमिक रूप से वैध विवाह है लेकिन ऐसा नही है। क्योंकि विवाह एक सांस्कृतिक नियम है। अलग-अलग संस्कृतियां होंगी तो अलग-अलग नियम होंगे। खासकर वैध यौन संबंध और संतान की वैधता के बारे में। हर संस्कृति अपने सदस्यों के लिए श्रेष्ठ होती है। हर व्यक्ति अपनी संस्कृति के नियमों को ही श्रेष्ठ मानकर दूसरों की संस्कृति के नियमों को सामान्य रूप से कमतर देखता है। जबकि किसी भी संस्कृति को तभी समझा जा सकता है, जब उसके सदस्यों का दृष्टिकोण अपनाया जाय। बानगी के तौर पर केरल की 'नायर' जाति एकमात्र मातृवंशीय जाति है। उनमें पहले बाल-विवाह पाया जाता था जिसमें बच्चों का विवाह कर दिया जाता था जिसे 'ताली' समारोह कहते थे। उसके बाद ज्यादातर पुरुष किसी सेना में शामिल हो जाते थे और लड़कियां बड़ी होकर प्रेमी रखती थीं। उनसे जन्मित संतान वैध संतान होती थी। जब त्रावणकोर विवाह अधिनियम 1913 द्वारा एक विवाह प्रथा को अपनाया गया, उसके बाद यह प्रथा समाप्त हो गई। इसका कारण था कि पुरुषों ने कहा कि पुरानी प्रथा वेश्यावृत्ति की तरह है इसलिए एक पति एवं पत्नी की प्रथा होनी चाहिए। महिलाओं ने कहा एक विवाही विवाह से पुरुष प्रभुत्व उत्पन्न होगा और पितृसत्ता आ जाएगी। अंततोगत्वा यही हुआ। अब मातृवंशीयता सिर्फ नाममात्र की रह गई है।

नीलगिरी पहाड़ी की 'टोडा' जनजाति में 'भ्रातांश' बहुपति विवाह पाया जाता है। एक पत्नी के कई पति होते हैं और सारे पति भाई होते हैं। पत्नी पर सारे भाईयों का समान अधिकार रहता है लेकिन संतान पर नही। एक 'धनुष बाण समारोह' के माध्यम से पत्नी जिस पति को धनुष बाण भेंट करती है, वही सारी संतानों का पिता होता है। केरल की 'इरावा' जनजाति में भी भ्रातांश बहुपति विवाह मिलता है। बड़ा भाई विवाह कर पत्नी लाता है तो बाकी सभी भाई स्वतः पति बन जाते हैं। हो सकता है, कुछ परिवारों में छोटा भाई बहुत छोटा हो और जब वह बड़ा होता हो तो पत्नी यौन संबंध रखने लायक नही होती। इसलिए वह पुनः विवाह कर एक पत्नी लाता है और बाकी सभी भाई स्वतः पति बन जाते हैं। अफ्रीका के सूडान की 'यूर' जनजाति में स्त्री-स्त्री विवाह की प्रथा है। ये पशुपालक एवं पितृवंशीय समाज है। जब किसी घर में पुत्र नही होता है तब उस परिवार में एक पुत्री को सामाजिक पुत्र घोषित किया जाता है। उसका विवाह किसी स्त्री से कर दिया जाता है (वृद्धा विवाह स्त्री)। फिर वह प्रेमी रखती है। जब इस प्रेमी से एक पुरुष संतान का जन्म होता है तब समस्या का समाधान होता है क्योंकि वह उस घर का वैध उत्तराधिकारी हो जाता है।

पिछले पांच दशकों में पश्चिमी देशों में विवाह संबंधों में काफी परिवर्तन आया है। यह सबसे ज्यादा 'लिव-इन-रिलेशनशिप' के रूप में देखने को मिला है जिसमें स्त्री-पुरुष एक पति-पत्नी की तरह रहते हैं बगैर विवाह संबंध के। अमेरिका के सर्वेक्षणों में पाया गया कि अधिसंख्य छात्र अपनी कॉलेज शिक्षा के समय यौन संबंध रखते हैं। ब्रिटेन में लिव-इन-रिलेशनशिप में 400 फीसद वृद्धि हुई है। इसके मायने यह हैं कि 'अरेंज्ड विवाह' में चाहे कैसा भी हो, किन्ही विपरीत परिस्थितियों में भी सात जन्म तक साथ रहना पड़ेगा अर्थात तलाक तभी संभव है जब संघर्ष, शोषण, अपमान या हिंसा चरम सीमा पर पहुंच गया हो। ज्यादातर समस्याएं घनिष्ठ शारीरिक संबंधों के बाद ही उत्पन्न होती हैं। भारत में ऐसे भी उदाहरण सामने आये हैं कि लोगों ने प्रेम विवाह किया और एक साल के अंदर तलाक हो गया। लिव-इन-रिलेशनशिप में लोग साथ रहे हैं फिर कुछ दिनों बाद अलग हो गए।

दरअसल, विवाह दो साथियों के मन एवं तन का मिलन है। वैसे आजकल हर विवाह समझौता है। विवाह में जैसे पहले कहा गया कि इसमें दो साथियों के बीच कुछ अधिकार एवं उत्तरदायित्वों का भी हस्तांतरण होता है। पति को अपने सारे व्यवहारों के साथ (सकारात्मक व नकारात्मक) पत्नी के प्रति क्रियाएं करनी चाहिए और पत्नी को भी ऐसा करना चाहिए। ये कम झूठ पर आधारित होना चाहिए तभी एक-दूसरे के नकारात्मक तत्वों से सामंजस्य करेंगे और संबंधों में स्थायित्व आएगा। वह विवाह सफल नही होता, जिसमें विवाह से पहले झूठ शामिल है या नकारात्मक तत्वों को छुपाया गया हो। इसलिए कम अवधि के संबंध के बाद अगर प्रेम विवाह हुआ है तो उसके असफल होने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं जबकि ज्यादा समय की कोर्टशिप के बाद होने वाला विवाह सफल साबित हुआ है।

आजकल अरेंज्ड विवाह में भी अक्सर फूट पड़ती दिखती है। क्योंकि दोनों साथियों में मल्टी-टास्किंग का होना, समय की कमी, मोबाइल व इंटरनेट में व्यस्त रहना, जरूरत से ज्यादा विपरीत लिंगी साथी रखना, व्यक्तिगत स्वच्छता की कमी, अत्यधिक अहम आदि समस्याजनक हो गया है। इन सब दृष्टिकोण से लिव-इन-रिलेशनशिप एक विकल्प माना जा सकता है। ब्रिटेन में जब यह अवधारणा 1970 के दशक में शुरू हुई, तब इसे अच्छा नही माना जाता था। लेकिन आज यह वैध साबित हो गई है। इसकी कई खूबियां भी हैं। मसलन, यदि किन्ही कारणों से विवाह साथी नही मिल रहा तब ये विकल्प है। ये घिनौनी दहेज प्रथा को रोक सकता है। इसमें किसी भी साथी के प्रति हिंसा या शोषण संभव नहीं। विवाह में होने वाले अत्यधिक खर्चे पर रोक लगती है। इसके नकारात्मक पहलू भी हैं कि माता-पिता या रिश्तेदार सामाजिक रूप से लिव-इन-रिलेशनशिप को नही अपना पाएंगे। क्योंकि यह वर्तमान पीढ़ी की सोच है। जबकि भारत पीढ़ीगत अंतर के लिए मशहूर रहा है। यहां हमेशा पुरानी पीढ़ी अपने जीवनकाल को श्रेष्ठ मानती है जबकि यह स्पष्ट है कि वर्तमान दशाएं विकसित हैं, मूल्यों का रूपान्तरण हुआ है, ज्यादा औपचारिक न्याय, बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं, बढ़ती जीवन प्रत्याशा, बेहतर शिक्षा एवं जागरूकता और मानवीय मूल्य आज की पहचान हैं। इस प्रकार पीढ़ीगत अंतर को न्यूनतम करना होगा। समय और स्थान के मुताबिक अपने आप में सामंजस्य लाना होगा। किसी भी तत्व में कट्टरपंथी या रूढ़िवादी मनोवृत्ति समाज के एकीकरण में योगदान नहीं कर सकती। लिहाजा धीरे-धीरे लिव-इन संबंधों के प्रति भी सहनशीलता एवं रचनात्मक मानसिकता लानी होगी।

राष्ट्रीय सहारा 15.12.2013

सहजीवन को मान्यता देने की ऐतिहासिक पहल

वैवाहिक संबंधों की प्रकृति के दायरे में लाने का निर्देश

नई दिल्ली, 28 नवंबर (भाषा)। सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि सहजीवन न तो अपराध है और न ही पाप है। साथ ही अदालत ने संसद से कहा है कि इस तरह के संबंधों में रह रही महिलाओं और उनसे जन्मे बच्चों की रक्षा के लिए कानून बनाए। सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि दुर्भाग्य से सहजीवन को नियमित करने के लिए वैधानिक प्रावधान नहीं है। सहजीवन खत्म होने के बाद ये संबंध न तो विवाह की प्रकृति के होते हैं और न ही कानून में इन्हें मान्यता प्राप्त है।

न्यायमूर्ति केएस राधाकृष्णन की अध्यक्षता वाली पीठ ने अपने ऐतिहासिक फैसले में सहजीवन को 'वैवाहिक संबंधों की प्रकृति' के दायरे में लाने के लिए दिशा-निर्देश तय किए। पीठ ने कहा-संसद को इन मुद्दों पर गौर करना है, अधिनियम में उचित संशोधन के लिए उपयुक्त विधेयक लाया जाए ताकि महिलाओं और इस तरह के संबंध से जन्मे बच्चों की रक्षा की जा सके, भले ही इस तरह के संबंध विवाह की प्रकृति के संबंध नही हों। पीठ ने कहा-सहजीवन या विवाह की तरह के संबंध न तो अपराध हैं और न ही पाप है, भले ही इस देश में सामाजिक रूप से ये अस्वीकार्य हों। शादी करना या नही करना या यौन संबंध रखना बिल्कुल व्यक्तिगत मामला है। विभिन्न देशों ने इस तरह के संबंधों को मान्यता देना शुरू कर दिया है।

सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि कानून बनाए जाने की जरूरत है क्योंकि इस तरह के संबंध टूटने पर महिलाओं को भुगतना पड़ता है। इसने कहा-बहरहाल हम इन तथ्यों से मुंह नहीं मोड़ सकते कि इस तरह के संबंधों में असमानता बनी रहती है। इस तरह के संबंध टूटने पर महिला को कष्ट उठाना पड़ता है। सहजीवन संबंध को भारत में स्वीकार नहीं किया गया जबकि कई देशों में इसे मान्यता हासिल है। बहरहाल पीठ ने कहा कि कानून विवाह पूर्व यौन संबंधों को बढ़ावा नही दे सकता और लोग इसके पक्ष व विपक्ष में अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं।

जनसत्ता 29.11.2013

अपराध और पाप नहीं

- शादी करना या संबंध बनाना लोगों का व्यक्तिगत मामला
- ऐसे संबंधों से जन्मे बच्चों की रक्षा के लिए बने कानून
- क्योंकि इस तरह के रिश्तों में बनी रहती है असमानता
- संबंध टूटने पर महिला को उठाना पड़ता है कष्ट
- कई देशों ने सहजीवन के संबंधों को दी है कानूनी मान्यता

समाज

ज्ञानेंद्र रावत

edit@amarujala.com

लिव इन रिलेशन में सुरक्षा का सवाल

समाज, संस्कृति और धर्म के ठेकेदार भले इस सवाल पर बावेला मचाएं, लेकिन इसके उलट सच्चाई यह है कि कानून भले इसकी वैधता न स्वीकारे, लेकिन आज के दौर में 'लिव इन रिलेशनशिप' के मामले तेजी से बढ़ रहे हैं। यही वह वजह है कि सुप्रीम कोर्ट को संसद से यह कहना पड़ा कि वह घरेलू हिंसा अधिनियम में ऐसी तब्दीलियां करे जिससे 'लिव इन रिलेशनशिप' में बंधी महिलाओं और उनके बच्चों को भी उसके तहत सुरक्षा मिल सके।

यह कटु सत्य है कि यदि एक निश्चित समय से ज्यादा समय तक एक साथ रहने वाले स्त्री-पुरुषों के रिश्ते को कानूनी मान्यता मिल सके, तो इससे उनके बच्चों के कानूनी अधिकार भी तय किए जा सकते हैं। देखा जाए, तो हमारे देश में 'लिव इन रिलेशन' नई बात है। संविधान निर्माण के समय संविधान निर्माताओं ने इसकी कल्पना तक नहीं की थी। लेकिन अब देश में ऐसे रिश्तों में रहने वाले स्त्री-पुरुषों की तादाद दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। जबकि अब तक इसे कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है। यह बात दीगर है कि इस संबंध को आजकल शादी का विकल्प भी कहा जा रहा है। यह ठीक है कि समाज में 'लिव इन रिलेशनशिप' के चलन को बढ़ाने में फिल्मों और फिल्मी सितारों की अहम भूमिका है। समाज इसे भले नकारे, लेकिन इसके कुछ फायदे भी हैं। इसमें न कोई बंधन, न कोई दस्तावेज होता है, हां वैवाहिक जीवन की तरह स्त्री-पुरुष साथ रहते जरूर हैं और घर के सभी खर्च, दोनों उठाते हैं। इसमें एक दूसरे से जिम्मेदारियों की उम्मीद कम रहती है, न वायदों को निभाने का झंझट और न कोई कानूनी अड़चन। इसे जब चाहे बिना किसी कानूनी अड़चन, भावनात्मक लगाव व आर्थिक परेशानियों के आसानी से तोड़ा जा सकता है। दोनों अपने-अपने अलग खाते खोलने, उसे चलाने के लिए व खर्च करने के लिए स्वतंत्र हैं। वे एक अच्छे इंसान की तरह साथ रहते हैं, जो स्वतंत्र इंसान की तरह साथ रहते हैं, जो स्वतंत्र रूप से अपने दायित्वों का निर्वहन करते हैं। दुनिया के कई देशों में इस संबंध को मान्यता भी मिल चुकी है, जो असलियत में शादी से पहले का एक 'लिटमस टेस्ट' है, जिसमें सही मायने में एक असली इंसान के दर्शन होते हैं। इस सामाजिक बदलाव के दर्शन अब देश के पारंपरिक समाज में भी होने लगे हैं। दरअसल यह रिश्ता एक अनौपचारिक समझदारी और जिम्मेदारी पर आधारित है। यह रिश्ता तब तक ठीक-ठाक चलता है, जब तक कि दोनों की आपसी समझ और जिम्मेदारी बनी रहती है। परेशानी तब आती है, जब इस संबंध में कड़वाहट आनी शुरू हो जाती है।

आज की परिस्थितियों में ऐसे संबंधों में सुरक्षा को लेकर सुप्रीम कोर्ट का निर्देश महत्वपूर्ण ही नहीं, प्रासंगिक भी है।

विवाह के मामले में तलाक की लंबी और जटिल प्रक्रिया वह अहम कारण होती है, जो उसे बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसलिए लिव इन रिलेशन में रहने वाले स्त्री-पुरुषों को भी कानूनी सुरक्षा मिलना बेहद जरूरी है। इन मामलों की बढ़ती तादाद को देखते हुए राष्ट्रीय महिला आयोग की यह राय है कि ऐसी महिला को गुजारे भत्ते का पूरा हक मिलना चाहिए और ऐसे संबंध से पैदा बच्चों को पिता की संपत्ति पर पूरा हक मिलना चाहिए।

गौरतलब है कि हमारे देश में बहुतेरी जातियों और वर्गों में सदियों से ऐसे रिश्तों का प्रचलन रहा है। पर उन जातियों या वर्गों के अपने नियम-कायदे और शर्तें हैं, जिन्हें अमली जामा पहनाने के लिए उनकी अपनी पंचायतें और संगठन हैं। भारत में विवाह संबंधी कानूनों का निर्माण उच्च वर्णों में व्याप्त नियमों के आधार पर किया गया है। आज जब रिश्तों का महत्व लेन-देन पर निर्भर हो गया हो, जब रिश्तों के मायने ही बदल गए हों, परंपरागत बंधन तिरोहित होते जा रहे हों और विवाह नाम की संस्था के बारे में लोगों की सोच ही नहीं, व्यवहार भी बदल गया हो, स्त्री विवाह नाम की संस्था से बाहर निकलना चाह रही हो और अपनी पहचान के प्रति गंभीर वह जिंदगी अपने तरीके से जीना चाह रही हो, ऐसे में अलग होने में कोई बुराई नहीं लगती। छोटे शहरों में भले इसका प्रतिशत कम हो, पर महानगरों में बढ़ते तलाक के मामले स्त्री स्वातंत्र्य, सशक्तिकरण, शिक्षा, आर्थिक आजादी और बेहतर करियर की चाह के जीते जागते सबूत हैं। ऐसे में सुप्रीम कोर्ट का यह निर्णय महत्वपूर्ण तो है ही, उसकी प्रासंगिकता निर्विवाद है। वैश्विक विकास के दौर में हमें इस नई स्थिति को स्वीकारना ही होगा।

अमर उजाला 13.12.2013

पराए आंगन में रुदन

सोनल शर्मा

अभी दिल्ली के वसंत कुंज इलाके में महिला घरेलू श्रमिक पर उसकी मालकिन की बर्बरता का मामला लोगों के जहन में धुंधलाया भी नहीं था कि पिछले दिनों बसपा सांसद धनंजय सिंह के साउथ एवेन्यू स्थित घर पर घरेलू सहायक की हत्या की सन्न कर देने वाली घटना सामने आ गई। बहुत थोड़े अंतराल पर हुई इन दोनों घटनाओं के बाद दिल्ली में घरेलू सहायकों के काम के हालात और उनसे जुड़े मुद्दे सुर्खियों में आ गए हैं। बसपा सांसद के घर हुई घटना कई मायनों में इसलिए भी ज्यादा गंभीर है कि यह घटना न केवल एक सांसद के घर में और देश की राजधानी में हुई, बल्कि इस सांसद का ताल्लुक दबे-कुचले वर्ग का प्रतिनिधि मानने वाली पार्टी से है, जिसने अब तक इस मामले पर कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है।

असल में हाल की इन दोनों घटनाओं में कुछ ऐसी चौंकाने वाली समानताएं हैं जिनसे घरेलू श्रमिकों के खिलाफ होने वाली हिंसा के संदर्भ को समझने में मदद मिल सकती है- दोनों ही घटनाओं में उत्पीड़न छोटी-मोटी मारपीट नहीं, बल्कि गंभीर हमलों की शक्ल में हुआ जिसमें पीड़ितों के खिलाफ डंडे से लेकर विभिन्न प्रकार के धारदार उपकरणों का प्रयोग करके उन्हें गंभीर चोटें पहुंचाई गईं। दोनों ही प्रकरणों में उत्पीड़न कई महीनों तक चला और उत्पीड़न के बारे में आरोपी मालिक और पीड़ित श्रमिकों के अलावा और भी कई लोगों को जानकारी थी।

दरअसल, कोई भी हिंसा की घटना पीड़ित और अपराधी के बीच किसी न किसी प्रकार की शक्ति की असमानता को व्यक्त करती है। इन दो और इस प्रकार की अन्य तमाम घटनाएं मालिकों के हित में असीम राजनीतिक और आर्थिक असमानता को दिखाती हैं जिसके प्रभाव में वे निर्भय होकर लंबे समय तक अपना बर्बरतापूर्ण बर्ताव जारी रखते हैं। एक तरह से यह दुस्साहसिकता लिंग पर आधारित हिंसा के विभिन्न रूपों- जैसे, यौन उत्पीड़न और घरेलू हिंसा- की भांति ही होती है। हिंसा करने वाले व्यक्ति को किसी प्रकार की सजा का भय नहीं होता। पीड़ित कितना कमजोर है, उसे इस बात का अच्छी तरह अनुमान होता है। इस तरह से देखें तो कहा जा सकता है कि हिंसा के ये रूप एक पति द्वारा अपनी पत्नी पर की जाने वाली घरेलू हिंसा से बहुत अलग नहीं हैं। घरेलू हिंसा में शामिल पति यह जानता है कि अपनी पत्नी के विरुद्ध हिंसा करके उसके रुतबे और सामाजिक स्वीकार्यता में कोई खास कमी नहीं आनी है। बल्कि कई मौकों पर राज्य और समाज का रवैया ऐसी हरकतों को परोक्ष रूप से समर्थन देने का होता है।

हालांकि बीते दिनों सामने आए इन मामलों में आरोपी और पीड़ित दोनों के महिला होने से ये घटनाएं ज्यादा हैरानी भरी लग रही हैं। शायद यही वजह है कि सतही तौर पर देखने पर इन घटनाओं की जड़ें लिंग आधारित हिंसा से जुड़ी हुई नहीं लग रही हैं, पर वास्तव में इन घटनाओं की खुलती हुई परतें यह इशारा करती हैं कि कैसे कुछ महिला मालिकों का रसूख और उससे पैदा हुआ गरूर उनके घरेलू श्रमिकों के कमजोर तबके और खासकर महिला होने पर हावी हो गया। हाल की इन घटनाओं में जो दरिंदगी भरा बर्ताव हुआ है, क्या हम आसानी से इसकी कल्पना एक वयस्क पुरुष के साथ कर सकते हैं? अगर नहीं, तो क्या हम इस प्रकार की हिंसा को लिंग आधारित हिंसा नहीं मानेंगे?

यह वही दिल्ली शहर है, जहां पिछले साल सोलह दिसंबर को एक महिला के संग हुई दरिंदगी के बाद विशाल जन-आंदोलन खड़ा हो गया था, जो महिलाओं के अधिकारों की लड़ाई में मील का पत्थर सिद्ध हुआ। घरेलू श्रमिकों में स्त्रियां बहुतायत में हैं और हाल में श्रमिकों के साथ जो क्रूरता की गई है वह केवल उनके कमजोर तबके के होने से नहीं, बल्कि उनके महिला होने से भी जुड़ी हुई है। हिंसा की ये घटनाएं वर्गवाद के छद्म आवरण में मूलतः लिंग पर आधारित हिंसा के रूप हैं।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या हाल की इन घटनाओं के बाद हम घरेलू श्रमिकों के मालिकों को संभावित अपराधी के रूप में देख सकते हैं? ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हर चोरी और हत्या की वारदात के बाद दिल्ली पुलिस और मीडिया को घरेलू श्रमिक अपराधी दिखने लगते हैं? क्या दिल्ली पुलिस घरेलू श्रमिकों का उत्पीड़न रोकने के लिए भी उसी गर्मजोशी से काम कर सकती है जैसे वह उनके मालिकों को सुरक्षित रखने के लिए करती है?

पुलिस और सरकार का रवैया न केवल मध्यवर्ग की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, बल्कि यह झुकाव घरेलू श्रमिकों और उनके मालिकों के बीच के शक्ति असंतुलन को बनाए रखने का काम भी करता है। दिल्ली पुलिस की वेबसाइट पर 'नागरिकों से अपील' इस बात का साक्ष्य है कि पुलिस के लिए नागरिक सिर्फ ये मध्यवर्गीय परिवार हैं और घरेलू श्रमिक उनके लिए खतरा। दिल्ली विकास रिपोर्ट (2009) में भी इस बात का जिक्र है कि किस प्रकार केवल घरेलू श्रमिकों की पुलिस-जांच न केवल सरकार और पुलिस के पक्षपाती नजरिए को उजागर करती है, बल्कि यह इस खोखली अवधारणा को भी मजबूत करती है कि मालिक अपने घरेलू श्रमिकों के विरुद्ध किसी प्रकार के अपराध में शामिल नहीं हो सकते। घरेलू श्रमिकों के काम की स्थितियों के बारे में सरकार कितनी उदासीन है, यह इस बात से पता चलता है कि इस संदर्भ में उसके पास कोई आंकड़े नहीं हैं। आंकड़ों के अभाव में, ऐसी घटनाओं को इक्का-दुक्का घटना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जैसा कि हाल में भी हुआ, न कि एक कड़वी हकीकत के अंश के रूप में, जिसे बदलने के लिए सरकार के पास मजबूत कानून होना चाहिए।

घरेलू श्रमिकों और उनके मालिकों के बीच का रिश्ता जाति और वर्ग की असमानता पर आधारित होने के साथ-साथ राज्य के उदासीन रवैए का भी परिणाम है, जो घरेलू श्रमिकों को ऐसे समूह के रूप में नहीं देखता जिसे संरक्षण की जरूरत है। नतीजतन कानून के सामने घरेलू श्रमिक एकदम असहाय नजर आते हैं।

घरेलू श्रमिकों और उनके मालिकों के बीच का रिश्ता जाति और वर्ग की असमानता पर आधारित होने के साथ-साथ राज्य के उदासीन रवैए का भी परिणाम है, जो घरेलू श्रमिकों को ऐसे समूह के रूप में नहीं देखता जिसे संरक्षण की जरूरत है। नतीजतन कानून के सामने घरेलू श्रमिक एकदम असहाय नजर आते हैं। घरेलू श्रमिकों के अधिकारों के लिए कानून बनाने में भारत सरकार की आनाकानी जगजाहिर है: भारतीय संसद में आजादी के समय से ही घरेलू श्रम के नियमन के लिए कितने ही विधेयक रखे गए, जो कभी कानून नहीं बन पाए। हाल ही में संपन्न अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन का सम्मेलन घरेलू श्रमिकों पर ढुलमुल रवैये का एक ताजा उदाहरण भर है।

कानून से हम किस प्रकार की उम्मीदें कर सकते हैं? क्या कानून वास्तव में घरेलू श्रमिकों की रोजमर्रा की जिंदगी को बदल सकता है? शायद नहीं। कानून से सीधे किसी भी प्रकार की उम्मीद करना अति उत्साह होगा। इतना जरूर है कि कानून श्रमिकों के लिए अधिकार की एक भाषा का सृजन कर सकता है, जो अपने आप में एक हथियार होगा। इस प्रकार की भाषा न केवल शोषण के अनुभवों को कड़वा सच मान कर चुपचाप सहने की प्रथा को तोड़ सकती है, बल्कि मालिकों को भी यह बताएगी कि घरेलू श्रमिकों और उनके संबंध की क्या हदें हैं।

हाल में हुई ये दो घटनाएं इस बात की ओर भी इशारा करती हैं कि किस प्रकार कुछ मालिक उन हदों को भूल जाते हैं। हाल की इन घटनाओं ने मुझे अपनी एक घरेलू श्रमिक से हुई उस बातचीत की याद दिला दिया जिसमें उसने खुद के प्रति अपनी एक महिला मालिक के व्यवहार को कुछ इस प्रकार बताया था:

'उसको हर काम टिच चाहिए था। वो बड़ा अकड़ती थी, इंसान को एक जैसे गुस्सा सा नहीं आता, एक जुनून! वो ऐसे बड़े धौंस वाली थी... जैसे कोई काम अगर ठीक से नहीं हुआ तो बाजू पकड़ के कस कर हिला देना। मुझे बहुत बुरा लगता था। मैं सोचती थी कि इसके यहां कौन काम करेगा... उसे सब बढ़िया चाहिए था, अगर कहीं थोड़ी-सी भी मिट्टी रह जाती थी, जैसे लकड़ी की अलमारी के कोनों में पूरे दिन आंधी चलेगी तो चाहे कितना भी कर लो दिन में दो बार तो डस्टिंग तो होनी ही है। तो अगर कभी मिट्टी दिखती थी तो मिट्टी लगा देना मेरे मुंह पर। वो इंसान नहीं समझती थी काम वालों को, वो समझती थी ये जानवर हैं।'

दिल्ली शहर में हाल में घरेलू श्रमिकों के खिलाफ हुई हिंसा और अमानवीय व्यवहार की घटनाएं भले ही देखने में एक दूसरे से अलग लगें, पर वास्तव में वे तेजी से आगे बढ़ रहे समाज के आर्थिक, सामजिक और राजनीतिक ताने-बाने में कुछ इस प्रकार गुंथी हुई हैं कि वे अपवाद से ज्यादा नियम लगती हैं। इन दोनों स्थितियों को महज अमानवीय और शर्मनाक कह देने भर से हम इन घटनाओं के संदर्भ का लेशमात्र भी नहीं समझ सकते खासकर जब हमारा समाज एक ऐसे दौर में है जहां आए दिन अमानवीयता का एक नया रूप देखने को मिलता है।

अगर आप घरेलू श्रम के मुद्दे पर काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्ताओं से पूछें तो वे आपको बताएंगे कि हाल के दिनों में जो वारदातें हुई हैं वे कतई अपवाद नहीं हैं। अगर कुछ अपवाद है तो यह कि घरेलू श्रमिकों की दुर्दशा को मुख्यधारा मीडिया में कवरेज मिली है जिसने इन घटनाओं को शायद पहली बार इस तरह से पेश किया है कि घरेलू श्रमिकों की पीड़ा को कुछ हद तक एक आवाज मिली है।

हो सकता है कुछ दिनों में घरेलू श्रमिकों के खिलाफ होने वाली हिंसा सुर्खियों में न रहे, पर उसका मतलब यह नहीं होगा कि इस देश में घरेलू श्रमिकों के खिलाफ हिंसा नहीं हो रही होगी। सरकार, पुलिस और अभिजात वर्ग जब तक घरेलू श्रमिकों के प्रति अपने नजरिए को नहीं बदलते और उनको अपने ही समाज के एक समान हिस्से के रूप में नहीं देखते, तब तक इस देश में वसंत कुंज और साउथ एवेन्यू अपने आपको बार दोहराते रहेंगे।

जनसत्ता 18.11.2013

sonal24888@gmail.com

इन लड़कियों का गुनाह क्या है?

पत्रलेखा चटर्जी
वरिष्ठ पत्रकार। विकास के मुद्दों पर दुनिया की महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में नियमित स्तंभ लेखन

भारत उन चंद देशों में शामिल है, जहां घरेलू नौकरों के संरक्षण के लिए कोई राष्ट्रीय कानून नहीं है। कोई भी यह नहीं बता सकता कि देश में कितने घरेलू नौकर होंगे। ये घरेलू नौकर देश के भारी-भरकम असंगठित क्षेत्र का हिस्सा हैं, जो देश के कुल कार्यबल में सबसे ज्यादा है।

भारत के मध्यम वर्ग के चहेतों की सूची काफी लंबी है। दुनिया के बारे में इसके विचार देश के प्रमुख समाचार पत्रों के कॉलम में, टीवी पैनल की चर्चा में और सोशल मीडिया पर प्रमुखता से छाए रहते हैं। वैश्विक नेताओं के लिए पिछले दो दशकों के दौरान बुलंद भारत की कहानी में यह सबसे अहम किरदार रहा है। इसकी पसंद और नापसंद को वैश्विक ब्रांड काफी अहमियत देते हैं। आने वाले महीनों के दौरान राजनीतिक विश्लेषक अपना काफी वक्त मध्यम वर्ग के वोट की चर्चा में बिताएंगे, लेकिन इस खुशगवार पक्ष का एक असहज पहलू पिछले सप्ताह सामने आया। संभ्रांत इलाके के रूप में मशहूर दक्षिण दिल्ली में रहने वाली एक बहुराष्ट्रीय कंपनी की एक कम्युनिकेशंस डायरेक्टर ने अपनी किशोर नौकरानी को बुरी तरह प्रताड़ित किया। यह खबर सामने आई तो हर कोई स्तब्ध रह गया। जब शक्तिवाहिनी नामक एक स्वयंसेवी संस्था के सदस्यों ने उस लड़की को वहां से छुड़ाया तो वह विकृत अवस्था में थी। उसकी त्वचा छिली हुई थी। शरीर और सिर पर चोट के निशान थे। यह झारखंड की रहने वाली एक आदिवासी लड़की थी। इस घटना ने शहरी भारत के कुछ सबसे ज्यादा परेशान करने वाले सवालों की तरफ लोगों का ध्यान एक बार फिर आकृष्ट किया है। आखिर यह वर्ग क्यों घरेलू नौकरों को उनका मूलभूत हक देने के लिए तैयार नहीं है? शिक्षित, सम्पन्न और वैश्विक जुड़ाव वाला यह वर्ग आखिर क्यों सामंती मानसिकता से बाहर नहीं निकल पा रहा है? और अब क्या किया जा सकता है?

भारत उन चंद देशों में शामिल है, जहां घरेलू नौकरों के संरक्षण के लिए कोई राष्ट्रीय कानून नहीं है। कोई भी यह नहीं बता सकता कि देश में कितने घरेलू नौकर होंगे। ये घरेलू नौकर देश के भारी-भरकम असंगठित क्षेत्र का हिस्सा हैं, जो देश के कुल कार्यबल में सबसे ज़्यादा हैं। इनमें सबसे ज्यादा संख्या उन महिलाओं की है, जो देश के सबसे पिछड़े राज्यों जैसे बिहार, झारखंड, ओडिशा और पश्चिम बंगाल से आती हैं। इन्हें निजी प्लेसमेंट एजेंसियों के स्वयंभू एजेंटों के जरिये नौकरियां मिलती हैं। इन लड़कियों में कई तो अवस्यक भी होती हैं। ऐसी कई एजेंसियां बेहद शातिर तरीके से गरीब परिवार की लड़कियों को झूठे आश्वासन देकर यहां ले आती हैं। अपने परिवार, समुदाय से दूर और पूरी तरह से अलग तरह के माहौल में रहकर घरेलू काम करने वाली इन लड़कियों को अनेक तरह से शोषण का सामना करना पड़ता है। यह सब कई वर्षों से चला आ रहा है। पिछले सप्ताह सामने आई घटना, इस तरह के बर्बर हादसों की एक पुनरावृत्ति भर है। मई, 2012 में समाचार चैनलों के जरिये हमने देखा था कि किस तरह नोएडा में एक सॉफ्टवेयर इंजीनियर अपनी 14 साल की नौकरानी को यातना देती थी। ऐसे आरोप सामने आए थे कि लड़की को रोजाना पीटा जाता था और उसे अपने मालिक के घर की चारदीवारी से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी।

सवाल यह है कि बार-बार इस तरह की घटनाएं सामने आने के बाद भी इन्हें दुरुस्त करने की दिशा में कदम क्यों नहीं उठाए जा रहे हैं? घरेलू नौकरों के संरक्षण से संबंधित राष्ट्रीय कानून को पारित करने का प्रयास कहीं नहीं दिख रहा है। राष्ट्रीय महिला आयोग (एनसीडब्ल्यू) ने 2010 में घरेलू नौकरों के कल्याण और सामाजिक सुरक्षा अधिनियम का मसौदा तैयार किया था, लेकिन इस पर कोई प्रगति नहीं दिखाई दी। अपवादस्वरूप कुछ राज्यों - आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान, बिहार और केरल के अलावा घरेलू कामकाज करने वालों को राज्य के विशिष्ट न्यूनतम मजदूरी कानून के दायरे में नहीं रखा गया है। जिन राज्यों में न्यूनतम मजदूरी कानून है भी, वहां उसे ठीक से लागू नहीं किया जा सका है। कम मजदूरी के साथ-साथ ऐसे लोगों को कई-कई घंटे और अनियमित तरीक से काम करना होता है। इन घरेलू नौकरों को साप्ताहिक छुट्टी, बीमारी, त्योहार और मातृत्व अवकाश जैसे अधिकारों से वंचित रखा जाता है। साथ ही पेंशन और बीमा जैसी सामाजिक सुरक्षा भी नहीं मिलती। इन सबके अलावा सबसे बुरा पहलू यौन शोषण और शारीरिक प्रताड़ना का है। इन समस्याओं से निपटने के लिए सरकार ने कुछ कदम उठाए भी हैं पर वह भी आधे-अधूरे तरीके से। दो साल पहले भारत सरकार ने घोषणा की थी कि राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आरएसबीवाई) की लाभार्थी सूची में घरेलू नौकरों को भी शामिल किया जाएगा। यह योजना गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों के लिए एक स्वास्थ्य बीमा योजना है। पर लाभार्थियों को चिह्नित करने और उसके बाद योग्य लोगों को इसका लाभ दिलाने के लिए कोई व्यापक क्रियान्वयन तंत्र नहीं है। देश की कुल आबादी में अनुसूचित जनजातियों की भागीदारी आठ फीसदी है। संसद और राज्य विधानसभाओं में अनुसूचित जनजाति बाहुल्य कई सीटें सुरक्षित भी हैं। फिर भी इन क्षेत्रों के सांसदों और विधायकों ने शायद ही कभी उन अप्रवासी महिलाओं के हक की आवाज उठाई हो, जो घरेलू नौकरानी के रूप में काम करती हैं। आखिर ऐसा क्यों है? इसका जवाब बहुत कड़वा, लेकिन सीधा है कि ये लोग राजनीतिक रूप से महत्व नहीं रखते। ये लोग बिखरे हुए हैं। जिन शहरों में ये लोग काम करते हैं वहां की मतदाता सूची में इनका नाम नहीं है। यह मध्य वर्ग जब खुद को असुरक्षित पाता है तो सड़कों पर उतर आता है। पर क्या यह वर्ग घरेलू नौकरों के शोषण के खिलाफ भी प्रदर्शन करेगा? क्या यह वर्ग घरेलू नौकरों के हक की सुरक्षा के उद्देश्य से कानून बनाने और उसे सख्ती से लागू करने के लिए दबाव बनाएगा?

अमर उजाला 06.10.2013

संबंधों की सामाजिक बुनावट

प्रकाश के रे

सर्वोच्च न्यायालय ने जुलाई 2009 के दिल्ली उच्च न्यायालय के उस निर्णय को रद्द कर दिया है, जिसमें भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के अंतर्गत अपराध माने गए 'अप्राकृतिक' यौन संबंधों के बारे में व्यवस्था दी गई थी कि वयस्कों के बीच आपसी सहमति से और निजी परिवेश (एकांत) में बनाए गए यौन संबंधों को अपराध मानना संविधान-प्रदत्त मौलिक अधिकारों का हनन है। इस मसले पर चल रही बहस फिर पहले की स्थिति में आ गई है। यह बहस भारतीय गणतंत्र के बुनियादी मूल्यों से जुड़ती हुई ज्ञान-विज्ञान की प्रस्थापनाओं को खंगालते हुए सभ्यता और संस्कृति के बहुत पुराने पन्नों को भी कई बार पलट जाती है। महज यौन-विमर्श मान कर इस बहस में शामिल होना, जल्दी में कोई फैसला देना या इससे परे रहना इस व्यापक निहितार्थ की सार्थकता को कमजोर करना होगा।

अंग्रेजी राज द्वारा ब्रिटिश कानूनों के साये में भारतीय दंड संहिता का निर्माण किया गया था। 1861 में इंग्लैंड और वेल्स में समलैंगिकता के लिए मृत्युदंड का प्रावधान हटा दिया गया था, पर समलैंगिकता एक आपराधिक कृत्य बना रहा। लॉर्ड मैकाले ने जब इसी साल ब्रिटिश भारत के लिए दंड संहिता बनाई तो इंग्लैंड के इस कानून को लागू करते हुए 'प्रकृति की व्यवस्था के विरुद्ध' आपसी सहमति से की गई यौन-क्रियाओं को अपराध घोषित किया और इसके लिए अधिकतम सजा उम्रकैद निर्धारित की। 1967 में ब्रिटेन में तो समलैंगिकता और वयस्क पुरुषों के बीच सहमति से होने वाले यौनाचार को अपराधों की श्रेणी से हटा दिया गया, लेकिन आजाद भारत में इसे अपराध माने जाने का प्रावधान बना रहा।

दिल्ली उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश अजित प्रकाश शाह और न्यायाधीश एस मुरलीधर ने कहा था कि दो वयस्क लोगों की परस्पर सहमति से बनने वाले यौन संबंधों को आपराधिक मानना संविधान के अनुच्छेद 21, 14 और 15 में उल्लिखित मूलभूत अधिकारों की अवहेलना है। पंडित नेहरू द्वारा संविधान सभा में पेश 'उद्देश्यपरक प्रस्ताव', जो संविधान की प्रस्तावना का आधार है, को उद्धृत करते हुए न्यायाधीशों ने कहा था कि संविधान की मूल भावना यह है कि हर व्यक्ति का समाज में अहम स्थान है और किसी को सिर्फ इसलिए बहिष्कृत नहीं किया जा सकता कि बहुमत की राय में वह 'भिन्न' है। उन्होंने इसे समानता और व्यक्ति के आत्मसम्मान से जुड़ा मसला माना था।

अदालत ने स्वयंसेवी संस्था नाज फाउंडेशन की याचिका के तर्कों से सहमति जताई थी कि इस धारा के तहत असहमति से और अवयस्कों से बनाए गए यौन-संबंधों को ही आपराधिक कृत्य माना जाए। 'नाज' ने बताया था कि इस कानून के कारण सरकारी संस्थाएं भेदभाव का रवैया अपनाती हैं, जिससे एड्स/एचआइवी के रोकथाम के लिए किए जा रहे प्रयासों में बाधा आती है। संस्था ने यह भी साबित किया था कि इस कानून की आड़ में उत्पीड़न, शोषण और हिंसा भी की जाती है।

दिलचस्प है कि 2004 में उच्च न्यायालय ने नाज की याचिका को यह कह कर खारिज कर दिया था कि विधि की संवैधानिकता पर दी गई अकादमिक चुनौती को स्वीकार करने की जरूरत नहीं है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने 2006 में इस आदेश को खारिज करते हुए याचिका पर सुनवाई का आदेश उच्च न्यायालय को दिया।

सुनवाई के दौरान भारत सरकार, दिल्ली सरकार, कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं, विशेषज्ञों और कार्यकर्ताओं ने अपना पक्ष रखा था। भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय और राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन ने नाज संस्था की बातों का समर्थन किया था। कई संस्थाओं ने सामूहिक रूप से यह तर्क दिया था कि यह कानून असंवैधानिक होने के साथ-साथ इस बेतुकेपन पर भी आधारित है कि यौन-क्रिया का उद्देश्य महज बच्चे पैदा करना है। इन तर्कों को स्वीकार करते हुए न्यायाधीशों ने यह भी दर्ज किया था कि चिकित्सा और मनोविज्ञान के विशेषज्ञ समलैंगिकता को बीमारी या मानसिक असंतुलन नहीं, बल्कि यौन-व्यवहार का ही एक प्रकार मानते हैं।

भारत सरकार के आकलन के मुताबिक, देश में समलैंगिकों, किन्नरों, कोत्तियों आदि की संख्या लाखों में है। इन्हें अपराधियों की जमात से निकाल कर पूर्ण नागरिकता का सम्मान देने वाले दिल्ली उच्च न्यायालय के ऐतिहासिक निर्णय से इस मांग को समुचित आधार मिला था कि धारा 375 और 377 में वर्णित दुष्कर्म की परिभाषा में संशोधन हो, जैसा कि विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट में कहा गया है। साथ ही, हमारे लोकतांत्रिक अनुभवों और वैश्विक स्तर पर कानूनों में हुए प्रगतिशील बदलावों के आधार पर डेढ़ सौ साल से भी ज्यादा पुराने भारतीय दंड संहिता में व्यापक फेरबदल की बात भी उठी।

इस फैसले को कुछ धार्मिक संगठनों ने सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आधारों पर सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी, जिसके बाद यह फैसला आया है। समलैंगिकता के विरोधियों का तर्क है कि समलैंगिकता और अप्रजननमूलक यौनाचार परंपरा-विरुद्ध और पश्चिम से आयातित है। लेकिन इस बात के प्रमाण बड़ी संख्या में मिलते हैं कि समाज में स्त्री-पुरुष के बीच प्रजननमूलक यौन-क्रिया के अलावा विभिन्न प्रकार के यौन-संबंध हमेशा से बनते रहे हैं। साथ ही, ऐसे यौनाचारों को लेकर विभिन्न प्रतिक्रियाएं भी रही हैं।

समलैंगिकता के विरोधियों का तर्क है कि समलैंगिकता और अप्रजननमूलक यौनाचार परंपरा-विरुद्ध और पश्चिम से आयातित है। लेकिन इस बात के प्रमाण बड़ी संख्या में मिलते हैं कि समाज में स्त्री-पुरुष के बीच प्रजननमूलक यौन-क्रिया के अलावा विभिन्न प्रकार के यौन-संबंध हमेशा से बनते रहे हैं। साथ ही, ऐसे यौनाचारों को लेकर विभिन्न प्रतिक्रियाएं भी रही हैं।

'मनुस्मृति' में समलैंगिकता को अपराध माना गया है और इसके लिए अनेक सजाओं का उल्लेख है। इस संहिता की व्यवस्थाओं में मुख्य चिंता कौमार्य की है, जिसके भंग हो जाने से शादी की संभावनाओं पर विपरीत असर हो सकता था। पुरुषों के समलैंगिक संबंधों पर यह ग्रंथ अपेक्षाकृत अधिक उदार है। यह ग्रंथ अक्सर विषमलिंगी यौन-अपराधों के लिए समलैंगिकों की तुलना में कठोर सजा का उल्लेख करता है। इसमें 'तृतीय लिंग' यानी हिजड़ों की उत्पत्ति का विवरण भी दिया गया है, जिसके अनुसार बालक और बालिका का जन्म क्रमशः वीर्य और स्त्री-तत्त्व की अधिकता से निर्धारित होता है और जब ये तत्त्व समान मात्रा में होते हैं तब तृतीय लिंग के शिशु (नपुंसक) या बालक-बालिका युग्म के जुड़वां बच्चे पैदा होते हैं।

चौथी सदी के 'नारद स्मृति' में समलैंगिक पुरुषों का विवाह वर्जित है। इसमें चौदह प्रकार के पुरुषों का वर्णन है, जिन्हें स्त्री के साथ यौनाचार के लिए अक्षम माना गया है। इसी काल के यौन-विषयक ग्रंथ कामसूत्र में विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान समलैंगिक आचरण और कई लिंग-प्रकारों का वर्णन मिलता है। इस ग्रंथ में किन्नरों ('तृतीय प्रकृति') और समलैंगिक पुरुषों में स्त्री-भाव और पुरुष-भाव होने और उनके पेशे का विस्तृत उल्लेख है। ऐसे लोगों के बीच वैवाहिक-संबंधों का विवरण भी दिया गया है। बारहवीं सदी के कामसूत्र की महत्त्वपूर्ण टीका यशोधर-कृत 'जयमंगल' में समलैंगिक पुरुषों के बीच विवाह के उल्लेख के साथ यह भी कहा गया है कि ऐसे पुरुषों में परस्पर मैत्री और विश्वास का गहन भाव मिलता है। कामसूत्र और जयमंगल में स्त्रियों के समलैंगिक संबंधों का विस्तृत उल्लेख है।

प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-ग्रंथ 'सुश्रुत संहिता' में कहा गया है कि समलैंगिक पुरुषों और किन्नरों की यौन-विशेषताएं गर्भ-धारण के समय ही निर्धारित हो जाती हैं। 'शब्दकल्पद्रुम संस्कृत कोश', 'कामसूत्र' और 'स्मृति रत्नावली' जैसे ग्रंथों में बीस तरह के समलैंगिक पुरुष बताए गए हैं। खजुराहो, पुरी और तंजौर के मंदिरों में समलैंगिक संबंधों को दर्शाते चित्र बहुतायत में देखे जा सकते हैं। कई पुराने जैन और बौद्ध मंदिरों में भी ऐसे चित्र मिलते हैं।

संगीतकार मुथुस्वामी दीक्षितर की 'नवग्रह कीर्ति' में बुध को नपुंसक यानी न तो पूर्ण पुरुष और न ही पूर्ण स्त्री माना गया है। पुराणों का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा कि जब बृहस्पति को पता चला कि उनकी पत्नी तारा के गर्भस्थ शिशु का पिता चंद्र है तो उन्होंने शिशु को उभयलिंगी होने का श्राप दे दिया। इस संतान बुध ने इला से शादी की, जो पुरुष था मगर एक श्राप के कारण स्त्री हो गया था। नारद एक तालाब में गिर कर स्त्री हो गए और उन्हें माया का ज्ञान हुआ। शिव यमुना में नहा कर गोपी बने, ताकि कृष्ण के संग रास कर सकें। अमदाबाद के निकट स्थित बहुचार जी मंदिर के बारे में कथा प्रचलित है कि कभी यहां एक तालाब था, जिसमें नहाने से स्त्रियां पुरुष हो जाती थीं। आज स्त्रियां इस मंदिर में पुत्र-प्राप्ति के लिए पूजा करतीं और वहां के भक्तों का आशीर्वाद ग्रहण करती हैं। ये भक्त पुरुष होते हुए भी स्वयं को स्त्री मानते और साड़ियां पहनते हैं।

तमिलनाडु के एक गांव में हर वर्ष अरवणी कहे जाने वाले किन्नर, अरवण की मृत्यु का शोक मनाने के लिए जमा होते हैं। कथा है कि अरवण अर्जुन और नागकन्या उलूपी का पुत्र था, जिसकी बलि चढ़ा कर ही पांडव महाभारत के युद्ध में विजयी हो सकते थे। बलि से पहले शादी करने की उसकी शर्त को कृष्ण को स्वयं मोहिनी रूप धारण कर पूरा करना पड़ा था।

महाभारत में स्त्री-रूप में उत्पन्न और पुरुष की तरह पले-बढ़े मगर सुहागरात में अपनी अक्षमता और पत्नी के छोड़ कर चले जाने से हताश शिखंडी को एक यक्ष ने दया करते हुए रात भर के लिए अपना लिंग दिया था, ताकि वह अपना पुरुषत्व सिद्ध कर सके। यही शिखंडी महाभारत में भीष्म के घायल होने और अंततः उनकी मृत्यु का कारण बना। कथा के अनुसार, शिखंडी पिछले जन्म में अंबा नामक राजकुमारी था, जिसका दो बहनों के साथ भीष्म ने अपहरण किया था। भीष्म इन बहनों की शादी शारीरिक रूप से अक्षम अपने अनुज विचित्रवीर्य से करना चाहते थे।

शिखंडी समलैंगिकों, किन्नरों आदि समूहों का प्रतीक-व्यक्तित्व है, जिन्हें आज 'क्वियरह्ल कहा जाता है। जिन प्राचीन संहिताओं में समलैंगिकता को अपराध और किन्नरों को हेय माना गया है, उन संहिताओं की व्यापक स्वीकृति के प्रमाण तो इतिहास में नहीं हैं, पर पारंपरिक और पौराणिक साहित्य में 'क्वियर' की बड़ी उपस्थिति समाज की सहिष्णुता और सहजता का बड़ा प्रमाण है। यही उपस्थिति भारत के अन्य मतों, पंथों, धर्मों और समुदायों के साहित्य में भी दर्ज है। इस तथ्य का अस्वीकार सर्वग्राही और समावेशी भारत की निर्माण-प्रक्रिया की उस राह को अवरुद्ध करना है, जिसके संस्कार अर्द्धनारीश्वर की पूजा, सूफी-संतों की वंदना, किन्नरों के आशीर्वाद और आजादी की लड़ाई के आदर्शों से उपजे संविधान की पवित्र व्यवस्था से बनते हैं।

pkray11@gmail.com

जनसत्ता 13.12.2013

12 साल से हक के लिए जारी लड़ाई

- **2001** : समलैंगिक अधिकारों के लिए लड़ने वाले एनजीओ 'नाज फाउंडेशन' ने दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर मांग की कि आपसी सहमति से बनाए जाने वाले समलैंगिक यौन संबंधों को अपराध न माना जाए।
- **2 सितम्बर 2004** : उच्च न्यायालय ने समलैंगिक यौन संबंध को अपराध न मानने की मांग करने वाली जनहित याचिका खारिज की।
- **सितम्बर** : समलैंगिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले कार्यकर्ताओं ने पुनर्विचार याचिका दायर की।
- **3 नवम्बर** : उच्च न्यायालय ने पुनर्विचार याचिका खारिज की।
- **दिसम्बर** : समलैंगिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले कार्यकर्ताओं ने उच्च न्यायालय के आदेश को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी।
- **3 अप्रैल 2006** : उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय को निर्देश दिया कि वह गुणदोष के आधार पर मामले पर फिर से विचार करे और मामले को फिर से उच्च न्यायालय के पास भेज दिया गया।
- **4 अक्टूबर** : उच्च न्यायालय ने वरिष्ठ भाजपा नेता बीपी सिंघल की याचिका को मामले की सुनवाई के दौरान शामिल किए जाने की अनुमति दी। सिंघल ने समलैंगिक संबंध को अपराध न मानने का विरोध किया था।
- **18 सितम्बर 2008** : समलैंगिक यौन संबंध के मुद्दे पर केंद्रीय गृह मंत्रालय और केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के विरोधाभासी नजरिए के बाद केंद्र ने इस मामले पर अपनी राय देने के लिए और मोहलत मांगी। उच्च न्यायालय ने अर्जी से इनकार किया और मामले में अंतिम बहस शुरू हुई।
- **26 सितम्बर** : उच्च न्यायालय ने समलैंगिकता कानून के मुद्दे पर स्वास्थ्य और गृह मंत्रालयों द्वारा दायर हलफनामे के बाद इस मुद्दे पर दो तरह का नजरिया रखने के लिए केंद्र की खिंचाई की।
- **26 सितम्बर** : केंद्र ने कहा कि समलैंगिक संबंध अनैतिक और कुत्सित मानसिकता का उदाहरण है और इसे अपराध न मानने से समाज का नैतिक विघटन होगा।
- **नवम्बर** : उच्च न्यायालय में सरकार ने लिखित तौर पर रखे गए अपने पक्ष में बताया कि न्यायपालिका को इस मुद्दे में दखल से दूर रहना चाहिए क्योंकि बुनियादी तौर पर इस मामले पर फैसला संसद को करना है।
- **7 नवम्बर** : उच्च न्यायालय ने समलैंगिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले कार्यकर्ताओं की ओर से दायर अर्जियों पर अपना फैसला सुरक्षित रखा। इन कार्यकर्ताओं ने समलैंगिक यौन संबंधों को अपराध न मानने की गुहार लगायी थी।
- **02 जुलाई 2009** : उच्च न्यायालय ने समलैंगिक अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाले कार्यकर्ताओं की याचिका मंजूर की और आपसी सहमति से वयस्कों के बीच कायम होने वाले समलैंगिक संबंधों को वैधानिक करार दिया।
- **9 जुलाई** : दिल्ली के एक ज्योतिष शास्त्री ने उच्चतम न्यायालय में दिल्ली उच्च न्यायालय के इस फैसले को चुनौती दी।
- **15 फरवरी 2012** : उच्चतम न्यायालय ने मामले की सुनवाई रोजाना के आधार पर शुरू की।
- **27 मार्च 2012** : उच्चतम न्यायालय ने फैसला सुरक्षित रखा।
- **11 दिसम्बर 2013** : उच्चतम न्यायालय ने 2009 में दिया गया दिल्ली उच्च न्यायालय का वह फैसला खारिज कर दिया जिसमें समलैंगिक संबंधों को अपराध न मानने का आदेश दिया गया था।

राष्ट्रीय सहारा 12.12.2013

देखी सुनी – मुख्य हिंदी समाचार पत्रों में छपने वाले महिला मुद्दों से सम्बन्धित खबरो व लेखो का त्रैमासिक संकलन है। संकलित लेखों में व्यस्त विचार लेखकों के निजी विचार है, ज़रुरी नही यह हमारी संस्थागत सोच व क्रियांवयन को दर्शाते हो।

जागोरी JAGORI

निशुल्क प्रतियों के लिए संपर्क करें–
जागोरी, बी–114, शिवालीक, मालवीय नगर, नई दिल्ली–110017,
फ़ोनः 011–26691219, 26691220
email: resource@jagori.org/jagori@jagori.org,www.jagori.org

Bread for the World, Misereor के सहयोग से प्रकाशित